चित्रों मे श्री फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री के सुझाव भी उल्लेखनीय रहे हैं। इन विद्वानों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

मेरे नवीन प्रयास की सराहना और आलोचना करनेवाले अनेक विद्वानों के पत्र मुझे मिले और मैं उन सबका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। इनमें भी मैं समालोचक ब्रह्मचारी मुक्त्यानन्द सिंह का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने ग्रन्थ का अत्यन्त गम्भीरता से अध्ययन कर अपने महत्वपूर्ण सुझाव दिये—मैंने उनके सुझावों को यथासम्भव मानने का प्रयास किया है। साथ ही मैं श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य 'सागर' और श्री नाथूरामजी शास्त्री, टीकमगढ़ के सुझावों का भी स्वागत करता हूँ। इन सब महानुभावों के दृष्टिकोण को समझ सोच कर मैंने इस ग्रन्थ का संशोधन कर दिया है, भावार्थ भी बहुत कुछ परिवर्तित कर दिया है।

अब यह संशोधित संस्करण आपके हाथ मे है। आशा है आप इसका हृदय से स्वागत करेंगे और अपने सुझावो को प्रेषित कर मुझे इसे अच्छे से अच्छा बनाने की सत्प्रेरणा देंगे।

नृपेन्द्रकुमार जैन
सम्पादक

जीवन समझ कर विताना शुरू किया। उनके अन्य पुत्रो ने भी उनके इस कार्य मे पूर्ण सहयोग दिया, जिनमे भाई श्री नृपेन्द्रकुमार ने तो उनके धार्मिक आचरणो को अत्यधिक अपनाया, कई वर्षो तक सन्त समागम, मुनि सघो मे रह कर यथाशक्ति धर्म-साधन किया एव आजीवन अविवाहित रह कर उनके धर्म-साधन मे बराबर सहायक रहे।

माता-पिता की सेवा मे रहने के कारण वे उनकी दिन-चर्या से पूर्ण परिचित थे और उन्होने उनके जीवन पर 'छहढाला' का प्रभाव अत्यधिक मात्रा मे पाया तथा इसी प्रभाव के कारण उनके जीवन को कितना लाभ हुआ, यह भी ज्ञात किया। अत इतनी लम्बी आयु पानेवाली उन महान आत्माओ की जीवन-निधि 'छहढाला' को आत्म-कल्याण हेतु सचित्र रूप मे आपके समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय भाई श्री नृपेन्द्रकुमार को ही है।

पञ्चम पुत्र श्री छोटेलाल ईशरी मे रहते है, सामाजिक एव धार्मिक कार्यो मे वैसे तो यह परिवार सर्वदा अग्रसर रहा है और राष्ट्रीय कार्यो मे भी इस परिवार के व्यक्तियो का पूर्ण सहयोग रहा है। जिनमे कनिष्ठ पुत्र चि० परमानन्द सिघई का नाम उल्लेखनीय है, जो सागर कांग्रेस कमेटी के कर्मठ कार्यकर्त्ता, पदाधिकारी एवं स्वतन्त्रता-सग्राम मे जेल-यात्री भी रहे हैं।

इस परिवार की सर्वदा यही मान्यता रही है कि शिक्षा एवं साधना से ही मनुष्य अपने जीवन को सार्थक एव सर्वोपयोगी बनाने मे सफल हो सकता है और यह प्रत्यक्ष भी है कि इन महान आत्माओ ने अपने चरित्र-बल से धर्म-साधना मे अपना समय बिताते हुए कर्तव्य का पूर्ण पालन किया। इनसे हमे धैर्य, अदम्य साहस और अटूट आत्म-बल की शिक्षा मिलती है और इन सबकी प्राप्ति हमे छहढाला के अध्ययन से ही सम्भव है।

हमे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि ज्ञानी पाठकवृन्द इसका अध्ययन करेगे और अपने व्यावहारिक जीवन मे भी इसे अपनाने का अवश्य प्रयत करेगे। बालको के लिये इसके चित्र बडे ही उपयोगी हैं। जैन पाठशालाओ मे इसका पठन-पाठन अनिवार्य रूप से होना चाहिये। स्व० सिघईजी के षष्ठ पुत्र चि० नन्दलाल ने इस संस्करण को सुन्दर बनाने मे सफल प्रयास किया है, अत वे सब बधाई के पात्र हैं।

वर्णी जयन्ती
आश्विन कृष्णा ४
वीर स० २४८७

छोटेलाल जैन M R A S
२६, इन्द्रविश्वास रोड, कलकत्ता

कवि दौलतरामजी
का
संक्षिप्त जीवन-परिचय और उनका छहढाला

जन्म—इनका जन्म विक्रम सं० १८५५ और १८५६ के बीच 'सासनी' या 'हाथरस' में हुआ था। इनके पिता का नाम 'टोडरमल' था, जाति पल्लीवाल तथा गोत्र गंगोटीवाल था। लोग इन्हें प्राय 'फतेहपुरी' कहा करते थे।

विवाह—कवि दौलतरामजी का विवाह सेठ चिन्तामणि अलीगढ़ निवासी की सुपुत्री के साथ हुआ था। आपके दो पुत्र हुए—बड़े पुत्र का नाम लाला टीकाराम था। लाला टीकाराम के वंशज आजकल भी लश्कर में निवास करते हैं।

अध्ययन—इनका अध्ययन आरम्भ में बहुत ही कम हुआ था। लेकिन ये प्रतिभाशाली थे, अत: अपने परिश्रम और स्वाध्याय से इन्होंने अनेक भाषायें व तत्त्वज्ञान सीखा। कहा जाता है कि काम करते हुए भी ये ६०-७० श्लोक प्रतिदिन कण्ठस्थ कर लिया करते थे। 'गोमट्टसार', 'त्रिलोकसार' आदि महान ग्रन्थ भी इन्हें मुखाग्र हो गये थे। भाषा, रस, पिंगल आदि का भी इनका अच्छा अध्ययन था।

परिस्थिति—कविजी परिस्थितियों से सदा सताये गये। सासनी से वे हाथरस आये और अपने छोटे भाई चुन्नीलाल के साथ बजाजी करने लगे। फिर परिस्थितिवश अलीगढ़ जाना पड़ा, वहाँ 'छींपा' का काम उन्होंने किया। उसके बाद सं० १८८२ में मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मंगनीरामजी इनकी विद्वत्ता देख इन्हें अपने साथ मथुरा ले गये। लेकिन वहाँ से कुछ दिन बाद ही वे लश्कर चले आये और फिर बाद में देहली चले गये। सं० १९२३ मार्गशीर्ष १५ को देहली में इनका शरीर-त्याग हुआ।

रचना—मालूम होता है कि कवि ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु वर्तमान में केवल इनकी दो ही रचनायें उपलब्ध हैं—'छहढाला' और 'पद-संग्रह'। इनमें 'छहढाला' अपनी विशेषता रखता है।

छहढाला—आध्यात्मिक जैन साहित्य का वह जगमगाता रत्न है, जिसे जौहरियों ने एक मत से 'अमूल्य' माना है। देखिये :—

'सागर को गागर में भर दिया'—स्व० श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसादजी वर्णी

'छहढाला ने कवि को अमर बना दिया है'—हिन्दी-जैन-साहित्य परिशीलन

'यह वह कृति है, जिसे पढ़ कर पाठक निजानन्द-रस मे मग्न हो जाता है'—

प० परमानन्द जैन

'अनेक आगमो का मथन कर 'छहढाला' का निर्माण हुआ है'—

प० दरवारीलाल कोठिया.

'भाव, भाषा और अनुभूति की दृष्टि से यह रचना वेजोड है'—

श्री नेमीचन्द शास्त्री, आरा

'दौलतरामजी प्रवुद्ध, आध्यात्मिक, प्रकृति के अन्तस्तल के अन्तर्द्रष्टा कवि हैं'—

प० सुमेरुचन्द्र दिवाकर.

'कवि दौलतराम के कारण माँ भारती का मस्तक उन्नत हुआ है'—

हिन्दी-जैन-साहित्य परिशीलन

इस प्रकार हम कवि दौलतरामजी को जनता की वोली मे सव आगमो को निचोड कर सरल तरीके से थोडे मे रखनेवाला अति जन-प्रिय आध्यात्मिक कवि पाते हैं।

भाषा व शैली—'छहढाला' मे व्रज मिश्रित खड़ी वोली है, जो अलीगढ़ के आस-पास वोली जाती है। भाषा सरल, स्वाभाविक और मुहावरेदार है। इससे सीधी हृदय को छूती है। भाषा-शैली समकालीन कवियो से मिलती-जुलती है, फिर भी प्रसाद गुण उसमे भरपूर है। दुरूह तात्त्विक विषय को इतने रोचक और सरल ढङ्ग से लिखना इनकी लेखनी की विशेषता है।

रस अलङ्कार—यह ग्रन्थ वैराग्य का पोषक शान्त-रस प्रधान है। वैसे अन्य रसों के प्रसगवश कुछ छीटे दिखाई देते है, किन्तु मूलत शान्त-रस ही लहराता है और अलङ्कारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि विना प्रयास के उनकी कविता मे अलकृत हो गये हैं।

छन्द—'छहढाला' मे मुख्य छ छन्द हैं—चौपाई, पद्धडी, नरेन्द्र (जोगीरासा), रोला, छन्द चाल और हरिगीता छन्द। इनकी पदावली मे अनेक गेय-छन्द हैं। मालूम होता है कि कविजी सङ्गीत के भी अच्छे जानकार थे और पिगल-शास्त्र के भी पारगत विद्वान्।

इस प्रकार यह छोटा ग्रन्थ 'छहढाला' अपनी अलग विशेषता लिये हुए है।

छहढाला

मङ्गलाचरण (सोरठा)

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमौं त्रियोग सम्हारिकैं॥
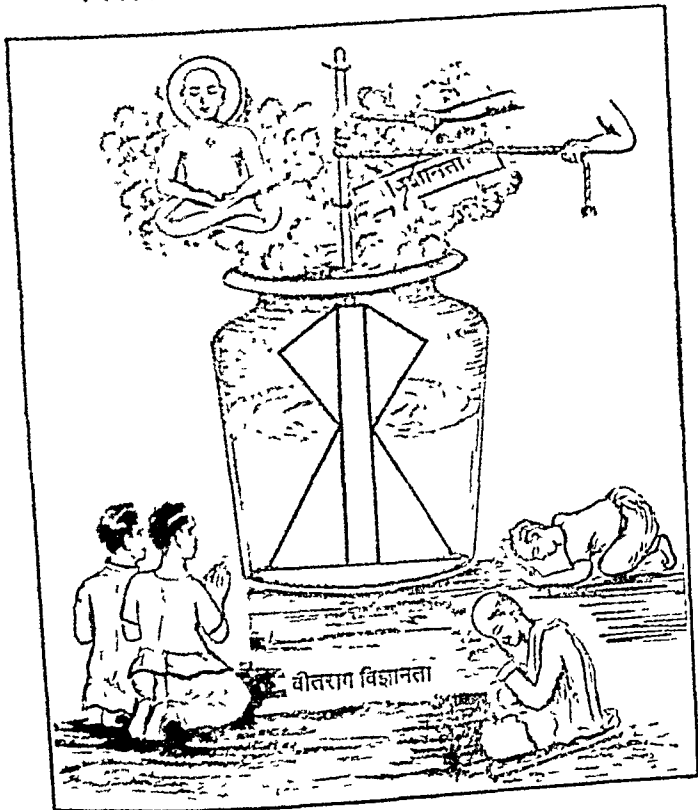
तीन भुवन—तीनों लोक अर्थात ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक, **सार**—सर्वोत्तम, उपादेय या निचोड, **वीतराग**—रागद्वेष-रहित, **विज्ञानता**—केवलज्ञान, **शिव स्वरूप**—आनन्द स्वरूप, **शिवकार**—मोक्ष देनेवाला, **त्रियोग**—मन, वचन, काय से।

अर्थ—तीनों लोक में सर्वोत्तम वस्तु है, रागद्वेष रहित केवलज्ञान। यही केवलज्ञान, आनन्द स्वरूप है और मोक्ष देनेवाला है। अतः मैं (दौलतराम) मन, वचन, काय को सम्हाल कर केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—समस्त ससार मे सत्य का अन्वेषण करने पर केवल एक ही वस्तु प्राप्त होती है, वह है वीतरागी सर्वज्ञ की समता—और उनकी वाणी। यह वाणी आनन्द स्वरूप है और प्राणियो को मोक्ष का सच्चा मार्ग दिखानेवाली है, अत कवि ऐसे केवलज्ञान की मन, वचन और काय से वन्दना करता है।

पहली ढाल

(चौपाई १५ मात्रा)

ग्रन्थ का उद्देश्य और जीवों की आकांक्षा

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःखतैं भयवन्त ।
तातैं दुःखहारी सुखकारि, कहैं सीख गुरु करुणा धारि ॥ १ ॥

अनन्त—जिनका कभी अन्त न हो, चाहैं—आकांक्षा करते हैं या चाहते हैं, भयवन्त—डरते हैं । दुःखहारी—दुःख हरनेवाला, सुखकारि—सुख देनेवाला, सीख—उपदेश या शिक्षा, गुरु—आचार्य ।

अर्थ—तीनों लोकों में अनन्त जीव हैं, वे सबके सब सुख की आकांक्षा करते हैं और दुःख से डरते हैं । इसलिये आचार्यों ने दया कर के उन जीवों को ऐसा उपदेश दिया है, जो दुःख को हरनेवाला है और सुख को देनेवाला है ।

भावार्थ—इस संसार में तीनों लोकों में अनन्त प्राणी हैं, सभी मात्र सुख की आकांक्षा करते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता । पर संसार दुःखमय है । यहां किसी की इच्छा की पूर्ति नहीं हो पाती । सद्गुरु इस दुःख का कारण जानते हैं और इससे उद्धार का मार्ग भी । वे करुणामय हैं । दुःखी प्राणियों को देख कर उनका हृदय द्रवीभूत हो उठता है, अतः वे उन्हें ऐसा उपदेश देते हैं, जो दुःख को दूर कर सुख का प्रसार करता है । अतः सुख की आकांक्षा करनेवाले प्राणियों को इन्हीं उपदेशों का अनुसरण करना चाहिये ।

संसार-परिभ्रमण और उससे छुटकारा पाने का मार्ग

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान।
मोह-महामद पियो अनादि, भूल आपकू भरमत वादि ॥ २ ॥

ताहि—उसे (उपदेश को), भवि—भव्य जीव, थिर आन—स्थिरता धर, कल्यान—भलाई या सुख, मोह—ममता, महामद—तेज शराब, अनादि—अनादिकाल से, भरमत—भटकते है, वादि—व्यर्थ मे।

अर्थ—हे भव्य जीवो ! यदि तुम अपनी भलाई या सुख को चाहते हो तो उस उपदेश को स्थिर चित्त से सुनो। (यह जीव) अनादिकाल से मोह-रूपी तेज शराब पीता ही रहा है, जिससे अपने स्वरूप को भूल कर व्यर्थ में (चारो गतियो मे) भटकता आ रहा है।

भावार्थ—ससार मे प्रारम्भ से ही मानव मोहरूपी मद का पान करता आ रहा है। जिस प्रकार शराब पीकर मनुष्य मत्त हो अपने को भूल जाता है, उसी प्रकार मोह के कारण मनुष्य अपनी आत्मा के सत्य स्वरूप को न समझ सकने के कारण व्यर्थ इस ससार-चक्र मे भटकता है। इससे छुटकारे का एकमात्र उपाय सद्गुरु का उपदेश है। अत: आत्म-कल्याण की कामना करनेवाले को अपने मन को स्थिर कर उनके उपदेश को सुनना चाहिये।

ग्रन्थ की प्रामाणिकता और निगोद के दुःख

तास भ्रमन की है बहु कथा, पै कछु कहूं कही मुनि जथा।
काल अनन्त निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्री-तन धार॥ ३॥
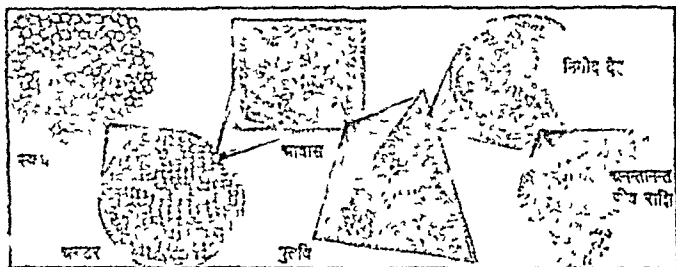
तास—उस जीव के, बहु कथा—लम्बी कहानी, पै—किन्तु, कछु—थोडी, मुनि—श्रीगुरु, निगोद-मंझार—निगोद मे, बीत्यो—बीता है, एकेन्द्री-तन—स्थावर-शरीर, धार—धारण कर।

अर्थ—उस जीव के संसार-भ्रमण की बहुत लम्बी कहानी है, किन्तु कुछ थोड़ी-सी, जैसी श्रीगुरु ने वर्णन की है, वैसी मैं (कवि) कहता हूँ। इस जीव ने निगोद में एक-इन्द्रिय शरीर धारण कर अनन्तकाल बिताया है।

भावार्थ—इस जीव के ससार मे परिभ्रमण की बहुत बड़ी कहानी है। फिर भी पहिले के आचार्यों ने जैसी कही है, तदनुसार मे कहता हूं।

यह जीव अनादिकाल से इस ससार मे है और निगोद (एकेन्द्रिय) शरीर को धारण करता आया है। यद्यपि निगोद सब जगह पाये जाते हैं, ऐसा कोई स्थान लोक मे नही है जहां न पाये जाते हो, तथापि सातो नरको के नीचे खास निगोदो का स्थान है। निगोद मे असख्य स्कन्ध पाये जाते हैं। हरएक स्कन्ध मे असख्य अण्डर होते हैं। हरएक अण्डर मे असख्य आवास बने हैं। हरएक आवास मे असख्य पुलवि हैं और हरएक पुलवि मे असख्य शरीर निगोद जीवो के हैं। इनमे से हरएक शरीर मे अनन्तानन्त निगोद जीव (एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक) पाये जाते हैं। असख्य स्कन्धो मे हरएक स्कन्ध का यही हिसाब है। इस तरह अनन्तानन्त जीव हर स्कन्ध मे ऐसे भी पाये जाते हैं, जिन्होने अबतक त्रस-पर्याय प्राप्त न की हो। ऐसे ही जीव ने अनन्तकाल विताया है।

निगोद के दुःख और स्थावर पर्याय

एक स्वास मे अठ-दस बार, जन्म्यो मर्‍यो भर्‍यो दुःख भार।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥ ४ ॥
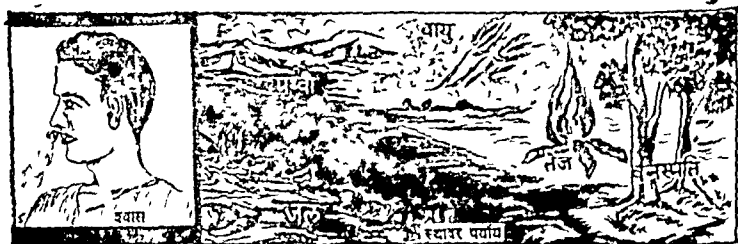
अठदस—अठारह, **जन्म्यो**—जन्म लिया, **मर्‍यो**—मरण प्राप्त किया, **भर्‍यो दुःखभार**—दुःख का बोझ सहा, **निकसि**—(निगोद से) निकल, **पावक**—अग्नि, **भयो**—हुआ, **प्रत्येक वनस्पति**—जिस एक वनस्पति शरीर मे एक ही स्थावर जीव हो, **थयो**—हुआ।

अर्थ—इस जीव ने निगोद में एक श्वास मात्र काल में अठारह बार जन्म लिया और मरण को प्राप्त किया। (इस प्रकार) दुःख का बोझ उसने सहा। कर्मयोग से निगोद से निकल कर यह जीव भूमि, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव हुआ।

भावार्थ—निगोद मे जीव को दुःख ही दुःख मिलता है, वहां वह एक श्वास मे ही अठारह बार जन्म-मरण करता है और ऐसी निगोद परम्परा मे दुःखो को अनन्तकाल तक सहन करता है। इसके पश्चात् दैवयोग से यह जीव अन्य स्थावर पर्याये भी धारण करता है—जैसे पृथ्वी, जल, वायु, तेज और वनस्पतिकायिक जीव। ये भी सब एकेन्द्रिय जीव की पर्याये हैं।

त्रस की दुर्लभता और उसके दुःख

दुर्लभ लहि ज्यो चिन्तामणी, त्यो पर्याय लही त्रसतणी।
लट पिपीलि अलि आदि शरीर, धरि-धरि मर्यो सही बहुपीर ॥ ५ ॥

चिन्तामणि त्रस पर्याय

दुर्लभ—कठिन, मुश्किल। चिन्तामणी—वह रत्न जिससे मन की चिन्तित वस्तु प्राप्त होती है. पर्याय—शरीर या गति, त्रस—दो इन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीव, पिपीलि—चिउटी, अलि—भौंरा, धरि-धरि—बारम्बार धारण करके, पीर—दुःख।

अर्थ—जैसे चिन्तामणि-रत्न बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्थावर से त्रस की पर्याय पाना दुर्लभ है। त्रस-पर्याय पाकर भी जब जीव ने (द्विइन्द्रिय) लट, (त्रिइन्द्रिय) चिउटी, (चौइन्द्रिय) भौंरा आदि विकलत्रय शरीर को बारम्बार धारण किया और मरण को प्राप्त हुआ, तो उसे वहाँ भी दुःख ही सहना पड़ा। इस प्रकार इस जीव ने बहुत दुःख सहन किया।

भावार्थ—जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न, जिससे मन की सभी इच्छित वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं, प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार स्थावर जीव का अपने से उच्च योनि (त्रस योनि) प्राप्त करना कठिन है। यदि जीव प्रयत्न कर त्रस योनि मे पहुँच भी जाता है तब भी उसे शान्ति नही मिलती, दुःखमय ससार मे वह दु:ख से दूर नही भाग सकता। त्रस पर्याय पाने पर भी वह बार-बार द्विइन्द्रिय जैसे लट, त्रिइन्द्रिय जैसे चीटी, चौइन्द्रिय जैसे भौंरा आदि विकलत्रय शरीर धारण करता है, इन पर्यायो मे भी जीव दु:ख ही पाता है, क्योंकि ससार ही दु:खमय है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के दुःख

कवहू पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन विन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निवल-पशू हति खाये भूर॥ ९॥

कवहूँ—कभी, निपट—विल्कुल या पूरी तरह, अज्ञानी—ज्ञानहीन, थयो—रहा, सैनी—वे जीव जो किसी की वात या इशारे समझ सकें, क्रूर—हिंसक, निवल—कमजोर, हति—मार कर, भूर—वहुत।

अर्थ—तिर्यञ्चगति मे विकलत्रय से निकल कर कभी (भाग्यवशात्) यह जीव पंचेन्द्रिय असैनी पशु हुआ तो मन के न होने से वह जीव विल्कुल ज्ञानहीन रहा, (इसी तरह दु:खी रहा)। जव सैनी (मन सहित ज्ञानवाला) हुआ तो सिंह आदिक क्रूर पशु हुआ, जिससे उसने वहुत से निर्वल पशुओं को मार-मार कर खाया।

भावार्थ—तिर्यञ्च गति मे भाग्योदय से यदि यह जीव पचेन्द्रिय हो भी गया तो उसे सुख कहाँ? जव वह असैनी था तव अज्ञान के कारण दु:ख पाता रहा और जव सैनी भी हुआ तव सिंह की तरह क्रूर प्रकृति का होने के कारण हिरण आदि निर्वल पशुओ का भक्षण करता रहा। अपनी प्रकृति को वश मे न कर सकने से वह सैनी होकर भी पाप करता रहा, दु:ख पाता रहा। इस प्रकार सैनी-असैनी दोनो ही अवस्थाओ मे जीव सुखी नही रह पाता।

तिर्यञ्चगति मे निर्बलता का दुःख

कबहूं आप भयो बलहीन, सबलनिकरि खायो अतिदीन।
छेदन भेदन भूख रु प्यास, भार वहन हिम आतप त्रास ॥ ७ ॥

४ निर्बल त्रस

बलहीन—निर्बल, सबलनि — बलवान, अति दीन-बहुत दुःखी, छेदन—किसी अङ्ग का छेदना, भेदन—शरीर मे तीक्ष्ण अस्त्र चुभोना, भार वहन—बोझा ढोना, हिम—ठण्ड, आतप—गर्मी, त्रास—दुःख।

छेदन-भेदन

भार वहन

अर्थ—कभी यह जीव निर्बल पशु हुआ तो बलवान (हिसक) पशुओं द्वारा खाया गया, इससे बहुत दुःखी हुआ। (यदि खाया न गया और बचा रहा तो) छेदा जाना, (अंकुश से) भेदा जाना, भूख प्यास सहना, भारी बोझ ढोना ठण्ड सहना, गर्मी सहना आदि अनेक प्रकार के दुःख उठाता रहा।

भावार्थ—जीव तिर्यञ्च गति मे आकर अनेक प्रकार के दुःख उठाता है, किसी भी परिस्थिति मे उसे सुख नही मिलता। जब वह सिंह की भाँति बलवान होता है तब हिरण आदि निर्बल पशुओं का हनन करता है और जब स्वय गाय-बैल की भाँति निर्बल हुआ तो चीते आदि सबल पशुओ द्वारा मारा गया। यदि भाग्यवश इन दुःखो से

बाल्यावस्था, जवानी व बुढ़ापे के दुःख

बालपने मे ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणी-रत रह्यौ।
अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥ १४ ॥

लह्यौ—मिला या प्राप्त किया, तरुण-समय—जवानी मे, तरुणी-रत—स्त्री आसक्त, रह्यौ—रहा, अर्ध-मृतक-सम—आधे मरे हुए के समान, बूढ़ापनो—बुढ़ा रूप—स्वरूप, लखै—जाने, देखे, अपनो—अपना या स्वय का।

अर्थ—लड़कपन मे इस जीव को ज्ञान न मिला (अज्ञानी रहा) जवानी में यह स्त्री में तल्लीन रहा। और बुढ़ापा तो आधे म हुए के तुल्य है ही। ऐसी दशा मे यह जीव अपना स्वरूप कै जान सकता है ?

भावार्थ—इसके पश्चात् का सम्पूर्ण जीवन अज्ञान और मोह का है। बाल्यावर तो खेल-कूद मे यो ही व्यतीत हो जाती है, उस समय अपने भले-बुरे कुछ ज्ञान ही नही रहता। युवावस्था मे भले-बुरे को समझने के ज्ञान- तो खुलते हैं, लेकिन जीवन विषय-रूपी मोह मे व्यतीत हो जाता अत ज्ञान भी मोह के कारण अज्ञान मे डूबा रह जाता है। वृद्धावर अपनी असमर्थता के लिये रोते-रोते ही व्यतीत हो जाती है, अत इ होते हुए भी व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को समझ अपना उद्ध नही कर पाता।

देवगति में भवनत्रिक के दुःख

कभी अकाम निर्जरा करे, भवनत्रिक मे सुर-तन धरे।
विषय-चाह-दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुःख सह्यौ ॥१५॥

अकाम निर्जरा—समता से कर्मों का फल भोगना और कर्मों का झड़ना, भवनत्रिक—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव, सुरतन—देव पर्याय का शरीर, विषय-वासना या काम, दावानल-वन मे लगी आग या भयानक अग्नि, दह्यौ-जला।

अर्थ—कभी इस जीव ने अकाम निर्जरा की, तो मर कर भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों मे से किसी एक का शरीर धारण किया। परन्तु वहां भी हर समय इन्द्रियों के विषयों की चाह-रूपी भयानक अग्नि में जलता रहा और मरते समय रो-रो कर अति दुःख सहन किया।

भावार्थ—मनुष्य अपने परिवर्तन-चक्र मे कही भी सुख का अनुभव नही करता, दुःख का कोई न कोई कारण सदा विराजमान रहता है। कभी-कभी मनुष्य समता भाव से कर्मों के फल का भोग लेता है, तो इससे भी कर्मों की निर्जरा होती है और इस मन्द कषाय के परिणाम स्वरूप वह भवनवासी आदि देव का शरीर धारण करता है। वहां उसे अनेक सुविधाये प्राप्त हैं, पर चिर-अतृप्ति तो जीव मे अनादि से है, वह वहां भी विषय-इच्छाओं की चाह-रूपी अग्नि मे जलता रहता है और जब मरणकाल आता है, तब विषय-वासनाओ के वियोग मे दुःखी होता है, अतः वहां भी विलाप करते-करते प्राण त्याग देता है। इस प्रकार जीव को कहीं भी सुख नही मिलता।

विमानवासी देवो के दुःख

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन विन दुःख पाय।
तहँ ते चय थावर-तन धरे, यो परिवर्तन पूरे करे॥ १६॥
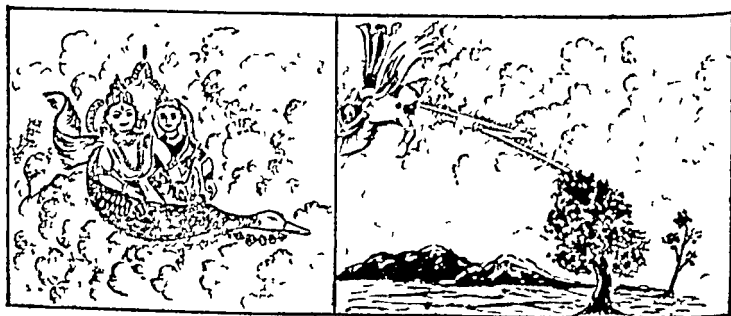
विमानवासी—चौथी जाति के स्वर्गवासी, वैमानिक देव। **हू**—भी, **थाय**—हुआ **सम्यग्दर्शन**—आत्मा और पर का ठीक-ठीक निश्चय या प्रतीति, **चय**—मर कर **थावर-तन**—स्थावर या एकेन्द्रिय का शरीर, **परिवर्तन**—ससार मे घूमना।

अर्थ—यद्यपि यह जीव स्वर्ग में विमानवासी देव भी हुआ, तो भी उसने वहां सम्यग्दर्शन के विना दुःख ही पाया। देवगति से चय कर वह स्थावर के दुःख-रूप शरीर को कुगति-भ्रमण के साथ धारण करता है। इस प्रकार यह जीव संसार में चक्कर लगाया करता है।

भावार्थ—देवो की पर्याय मे केवल सुख ही सुख नही है, दुःख भी है। यदि वहा जाकर जीव विमानवासी देव भी वन जाता है, तव भी स्व और पर की ठीक-ठीक प्रतीति न होने के कारण दुःख ही पाता है। मिथ्यादर्शन की तीव्रता से देवगति से निकल कर वह फिर स्थावर होता है, पश्चात् कभी विकलत्रय, कभी तिर्यञ्च, कभी नारकी, कभी मनुष्य और कभी देवगति मे भ्रमण करता रहता है। वह सदैव परिवर्तन के चक्र मे घूमता रहता है, उसे कही पूर्ण सुख नही मिलता, वह सदा दुःखी रहता है।

कुछ ध्यान देने योग्य बातें

१. छन्द—प्रथम ढाल का छन्द "चौपाई" है। इसका दूसरा नाम "जयकरी" भी है। इसमे ४ चरण होते हैं और प्रत्येक चरण मे १५ मात्राये होती है। चरण के अन्त मे गुरु-लघु का क्रम है।

२ इस ढाल के भेद-संग्रह—

देव	(४)	भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और विमानवासी।
पंचेन्द्रिय	(२)	सज्ञी और असज्ञी।
योग	(३)	मन, वचन, काय (द्रव्य और भाव)।
लोक	(३)	ऊर्ध्व, मध्य और अधो।
वनस्पति	(२)	साधारण और प्रत्येक।
संसार	(२)	त्रस और स्थावर।

३. इस ढाल के युग्मों का अन्तर—

(i) त्रस-स्थावर—त्रस नाम-कर्म के उदय से त्रस-जीव और स्थावर नाम-कर्म के उदय से स्थावर-जीव होते है। मोटे रूप मे त्रस चलनेवाले और स्थावर नही चलनेवाले जीव होते हैं।

(ii) संज्ञी-असंज्ञी—संज्ञी—वह जो शिक्षा ग्रहण कर सके, यह पचेन्द्रिय ही होता है। असज्ञी—वह जो शिक्षा ग्रहण न कर सके, यह एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक होता है।

(iii) वनस्पति—साधारण-प्रत्येक—साधारण वनस्पति के आश्रय मे एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हैं, किन्तु प्रत्येक वनस्पति के आश्रय मे एक शरीर मे एक ही जीव रहता है।

४. लाक्षणिक शब्द—इस ढाल मे आये हुए निम्नांकित शब्दो का लक्षण समझिये — अकाम-निर्जरा, गति, चिन्तामणि, निगोद, नित्य-निगोद, प्रत्येक वनस्पति, भव्य, मेरु, विमानवासी, लोक, सागर (देखिये परिशिष्ट 'क' मे)।

दूसरी ढाल

(पद्धरी छन्द. १५ मात्रा)

चारो गतियो मे परिभ्रमण का कारण

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चरण वश, भ्रमत भरत दुःख जनम-मरण ।
तातै इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहू वखान ॥ १ ॥
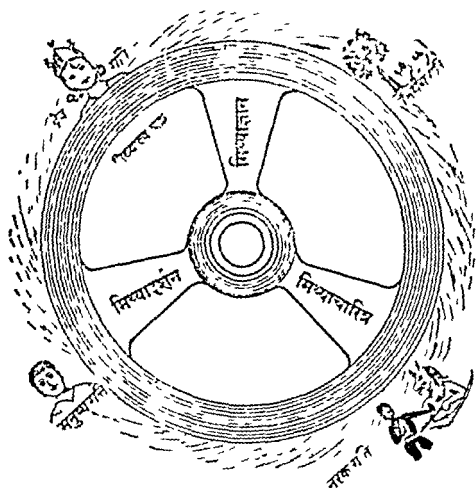
मिथ्या-दृग-ज्ञान-चरण—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, **वश**—आधीन, **भरत**—सहता है, **तातैं**—इसलिये, **तिन**—उनका ।

अर्थ—यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के आधीन होकर (चारो गतियो मे) भ्रमण करता है और जन्म-मरण के दुःखों को सहता है । इसलिये उन मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को छोडिये । उन मिथ्यात्वों के सम्बन्ध में संक्षेप में वर्णन मैं (पं० दौलतराम) करता हूँ, सो सुनो ।

भावार्थ—जीव निरन्तर मनुष्य-गति, देव-गति, तिर्यञ्च-गति और नरक-गति के चक्र मे भटकता रहा है, प्रत्येक गति मे दुःख ही दुःख मिलता है । इस दुःख का कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । अतः मनुष्य को इन विपरीतताओं को छोडने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अगृहीत मिथ्यादर्शन और जीव-तत्त्व

जीवादि प्रयोजनभूत तत्व, सरधै तिनमांहि विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, विन मूरति चिनमूरति अनूप ॥ २ ॥
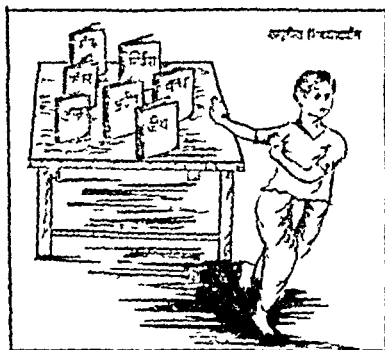
जीवादि—जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, प्रयोजन भूत—मतलब के या सारभूत, सरधै—श्रद्धान करता है, तिन—उनके, विपर्ययत्व—विपरीतता, उपयोग—ज्ञानदर्शन, रूप-लक्षण, विनमूरति-अमूर्तिक, चिनमूरति — चैतन्य - रूप अनूप—उपमा-रहित ।

अर्थ—यह जीव जीवादि तत्त्व (जो सात हैं), जो अपने लिये सारभूत हैं, उनमें विपरीत श्रद्धान करता है। (वास्तव में) चेतन या आत्मा उपयोग अर्थात् ज्ञानदर्शन स्वभाववाला अमूर्तिक, चैतन्य स्वरूप और अनुपम है।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात सारभूत तत्व हैं। इन तत्वों का उलटा श्रद्धान करना ही मिथ्यादर्शन है। इन पर यथार्थ श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है। अज्ञान के कारण जीव विना किसी के सिखाए विपरीत मार्ग पर चलता है और संसार मे भटकता है। इन सात तत्वो पर श्रद्धा रखनेवाले आत्मा के वास्तविक अमूर्तिक चैतन्यरूप स्वरूप को समझते हैं, आत्मा अमूर्तिक चैतन्य स्वरूप और अनुपम है। मिथ्या विश्वास रखनेवाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं।

मिथ्यादृष्टि का शरीरादि पर-वस्तुओं पर निजत्व-भाव

मैं सुखी दुःखी मैं रङ्क, राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत-तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥ ४॥

रङ्क—गरीब, राव—राजा-धनी, गोधन—गाय, बैल आदि, प्रभाव - दबदबा, धाक, तिय—स्त्री, सबल—बलवान, बेरूप —कुरूप, सुभग—सुन्दर, प्रवीन—चतुर।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभाव से यह जीव ऐसा मानता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं धनी हूँ, धन मेरा है, गाय-बैल मेरे हैं, मेरी धाक है, पुत्र मेरे हैं, स्त्री मेरी है, मैं बलवान हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं चतुर हूँ।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन के कारण जीव स्वय या आत्मा को न पहचान कर उसे शरीर का पर्यायवाची मानने लगता है। शरीर के सुख-दु ख से ही अपने को सुखी-दु खी समझता है। वह आत्मा की भूल भौतिक सुख-दुःख तक ही सीमित होता है। इसी भ्रम के कारण धन, स्त्री, सन्तान आदि से सम्पन्न रहने पर अपने को सुखी समझता है और इनसे बिछुड़ने पर दुःखी। वह आत्मा की पावनता, अपावनता, सौन्दर्य, असौन्दर्य को नही देखता। वह तो उनका दर्शन अपने शरीर मे करना चाहता है। इसी मिथ्यादर्शन या मिथ्या विश्वास के कारण वह मोह मे पड़ कर ससार मे भटकता रहता है।

बन्ध और संवर-तत्व का विपरीत श्रद्धान

शुभ-अशुभ-बन्ध के फल मंझार, रति अरति करे निज-पद विसार ।
आतम-हित-हेतु विराग-ज्ञान, ते लखे आपकूं कष्ट दान ॥ ६ ॥
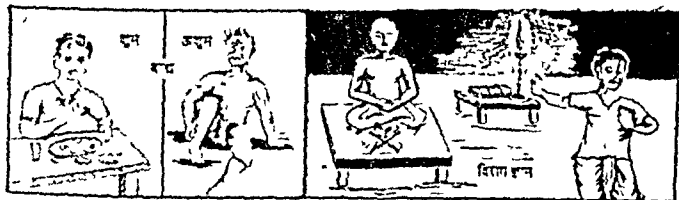
बन्ध —कर्मों का बन्धन, मंझार—में, रति—प्रेम या राग, अरति—द्वेष या विराग, विसार—भूल कर, विराग—राग रहित या वैराग्य, लखे—मालूम होती है ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव पूर्व में बंधे हुए शुभ-कर्मों का फल भोगने में तो रुचि रखता है और अशुभ-कर्मों के फल भोगने में अरुचि रखता है; क्योंकि वह अपनी आत्मा के रूप को भूला हुआ है । (ऐसी शुभ फल में रुचि, अशुभ फल में अरुचि रखना, बन्ध-तत्व का विपरीत श्रद्धान है ।)

आत्मा की भलाई करनेवाले वैराग्य और तत्व-ज्ञान हैं । इस जीव को मिथ्यादर्शन के कारण वैराग्य और निज ज्ञान की बातें कष्टदायक प्रतीत होती हैं । (राग-द्वेष और पर ज्ञान में ही निमग्न रहना चाहता है और उनमें ही सुख ढूंढ़ता है ।) यह संवर-तत्व का विपरीत श्रद्धान है ।

भावार्थ—इसी प्रकार वंध और संवर तत्व का भी मिथ्यादृष्टि के कारण जीव विपरीत श्रद्धान करता है । अपने बंधे कर्मों के अनुसार फल प्राप्ति होती है, पर भ्रम और अज्ञान के कारण जीव अपने वर्तमान सुख-दुख को अपने विगत कर्मों का फल न समझ शुभ-कर्मों के परिणाम भोगने मे सुखी होता है और अशुभ मे दुःखी । मिष्टान्न भोजन मे रुचि दिखाता है और बीमार होने पर दुःखी होता है । वह भूल जाता है कि अपने सभी कर्मों का भोक्ता वही है, इसमे हर्ष-विषाद नही करना चाहिए । यही बन्ध तत्व का विपरीत श्रद्धान है । वैराग्य और ज्ञान का अभ्यास आत्मा के लिये हितकारी सवर तत्व है । मिथ्यादर्शदन के कारण जीव उसे कष्टप्रद समझता हुआ उससे दूर भागता है और माया मोह के गढ़े मे गिरता है, यही सवर तत्व का विपरीत श्रद्धान है ।

गृहीत मिथ्यादर्शन, उसमें कुगुरु का लक्षण

जे कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोपे चिर दर्शन मोह एव।
अन्तर रागादिक धरै जेह, वाहर धन अम्बर तै सनेह ॥ ९ ॥
धारै कुलिंग लहि महत-भाव, ते कुगुरु जन्म जल-उपल-नाव।

पोपैं—पोषण करते है या मजबुत करते है, **चिर**—सदा, **दर्शन-मोह**—मोहनीय-कर्म, **अन्तर**—हृदय मे, **अम्बर**—कपडा, **कुलिङ्ग**—खोटा भेष. **महत**—बडा, **उपल**—पत्थर ।

अर्थ—जो खोटे गुरु, खोटे देव और खोटे धर्म की सेवा करता है, व सदा दर्शन मोहनीय-कर्म को ही मजबूत करता है। जो मन में राग-द्वे रखते है और वाहिर धन, वस्त्र आदि से प्रेम करते है और अपने को वड मान कर खोटे भेष को धारण करते है, वे कुगुरु अर्थात् खोटे गुरु जन्म मरण (संसार) रूपी जल में तिरने के लिये पत्थर की नाव के समान हैं।

भावार्थ—सत्गुरु तो जीव को मुक्ति मार्ग दिखाता है, किन्तु कुगुरु जीव को पतन के मार्ग पर बढ़ाता है। खोटे गुरु, खोटे धर्म और खोटे देव की सेवा करने से इस मिथ्या तत्व की नीव और भी मजबूत हो जाती है। खोटे गुरु वे है, जो गुरु का भेष रख कर भी गुरुपने के गुण से रहित है। जो अपने मन मे राग-द्वेष रखते है और धन वस्त्रादि से मोह करते है। उनका हृदय मोह और विषयों मे पूर्ण लिप्त रहता है। निश्चित है कि ऐसे कुगुरु की सगति जो भी करेगा, उसका पतन ही होगा। ये कुगुरु पत्थर की नाव की तरह है, जो स्वय तो पतन की भवरो में फंसते ही है और अपने अनुसरण करनेवाले को भी डुबा देते है।

कुदेव के लक्षण

जे रागद्वेष-मल करि मलीन, वनिता-गदादि जुत चिह्न चीन ॥१०॥
ते हैं कुदेव, तिनकी जु सेव, शठ करत, न तिन भव-भ्रमन-छेव ।

मल—मैल, मलीन—मैले गन्दे, वनिता—स्त्री, गदादि—अस्त्र-शस्त्र, चिह्न—निशान, चीन—पहिचानो, शठ—धूर्त, भव-भ्रमन—ससार का चक्कर, छेव—छय या कमी होना ।

अर्थ—जो राग-द्वेष-रूपी मैल से मलिन है, जिनको स्त्री, गदा आदि अस्त्र-शस्त्र के चिह्न होने से पहिचाना जा सकता है, वे सव कुदेव है। उनकी सेवा केवल देव के सच्चे स्वरूप को न जाननेवाले लोग ही करते हैं। उनके ससार के भ्रमण में कभी कमी नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—कुदेव वे हैं, जो स्वय माया मोह मे पूर्णतः लिप्त है, जिनमे ससार के प्रति पूर्ण आकर्षण है । अत. उन्हे ससार के भौतिक सुखो की ओर राग है और शरीर को कष्ट देनेवाली वस्तुओ और व्यक्तियो से द्वेष है। वे विषयी है । नारी सदा उनके साथ रहती है, वे अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित रहते है । इस प्रकार अपनी काया की सुरक्षा की वे पूर्ण व्यवस्था करते है । उनके लिये आत्मा नही, शरीर ही सर्वस्व है । ऐसे कुदेवो से संसार का उद्धार नही हो सकता । उनकी सेवा भी अज्ञानी और विषयी ही करते है और इस मिथ्या धारणा से वे संसार-भ्रमण से अपने को नही वचा सकते ।

कुधर्म का लक्षण

रागादि-भाव-हिंसा समेत, दर्वित त्रस-थावर मरन-खेत ॥११॥
जे क्रिया तिनहिं जानो कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म ।
याको गृहीत मिथ्यात जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ॥१२॥

भाव-हिंसा—भावो या विचारो मे हिंसा के भाव, दर्वित—द्रव्य-हिंसा, खेत—क्षेत्र, स्थान । अशर्म—दु ख ।

अर्थ—राग-द्वेष आदि भाव-हिंसा सहित त्रस और स्थावर जीवों के घात होने से जिन क्रियाओं में द्रव्य-हिंसा होती है, वे सब क्रियायें कुधर्म हैं । इस प्रकार कुगुरु, कुदेव और कुधर्म मे जो जीव श्रद्धान करता है, वह जीव सदा दुःख ही प्राप्त करता है; अतः इनको गृहीत मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) समझो । अब गृहीत मिथ्याज्ञान क्या है, उसे सुनो ।

भावार्थ—कुधर्म वह ह, जहा जीव हृदय मे राग-द्वेष के कारण भाव-हिंसा करता है एव मन मे अनेक घृणित विचार लाता है । उसकी मानसिक दशा तो यह है और व्यवहारिक जीवन मे भी त्रस जीवो की द्रव्य-हिंसा करता है । देवो को प्रसन्न करने के वहाने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये कभी वकरे की वलि चढाता है तो कभी भैंसे की । ये सब क्रियाये कुधर्म है, इन पर चलनेवाला जीव सदा दु ख उठाता ह । यह गृहीत मिथ्यादर्शन है ।

गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक-पोषक अप्रशस्त ।
कुमतिन-विरचित-श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥१३॥

एकान्तवाद—वस्तु के अनेक स्वभावो मे से एक ही स्वभाव को वस्तु समझना, अप्रशस्त—खोटे या निन्दनीय, कुमतिन-विरचित—रागी-द्वेषी कुबुद्धिओ द्वारा रचा हुआ, श्रुत—शास्त्र, अभ्यास – अध्ययन, कुबोध – मिथ्याज्ञान ।

अर्थ—जो शास्त्र एकान्त पक्ष से दूषित हैं या जो विषय-वासनाओं के पोषक होने से निन्दनीय हैं, ऐसे रागी-द्वेषी कुबुद्धियों द्वारा रचे गये हों, उन समस्त शास्त्रों का पठन-पाठन (अध्ययन) गृहीत मिथ्याज्ञान है । ये अन्त में बहुत दुःखदायी हैं ।

भावार्थ—गृहीत मिथ्याज्ञान वह है, जो वस्तुओ को एक ही दृष्टिकोण से देखता है, क्योकि प्रत्येक वस्तु मे अनेक दृष्टियो से देखे जाने की क्षमता है । अत सभी दृष्टिकोणो पर समुचित विचार करने के पश्चात् ही अपना मत बनाना चाहिए । पर एकान्तवाद-प्ररूपक ग्रन्थो का अभ्यास मिथ्याज्ञान है । मिथ्याज्ञान विषय-वासनाओ पर विजय नही पाता, वरन् उन्हे जागृत करने में सहायता करता है । यह कुटिल बुद्धि से रचित है । विचार, विषय और लेखक—तीनो के विपरीत होने के कारण ऐसे शास्त्राभ्यास से होनेवाला ज्ञान जीव को मिथ्याज्ञान कराता है । जिससे उसे अन्त मे दुःख ही प्राप्त होता है । इनसे शान्ति या सुख की आशा करना व्यर्थ है ।

आत्महित का उपदेश

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित-पथ लाग ।
जगजाल-भ्रमण को देय त्याग, अब 'दौलत' निज आतम सुपाग ॥१५॥
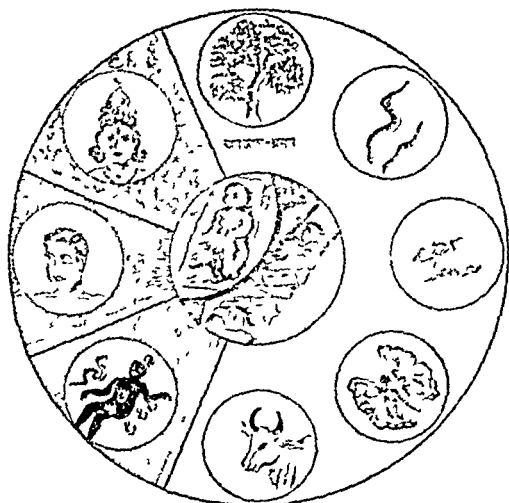
हित पंथ — हितकारी-मार्ग, जगजाल-भ्रमण–जगत् के जआल मे भटकना, सुपाग-अच्छी तरह सलग्न होना ।

अर्थ—ये सब (खोटे तप) मिथ्याचारित्र हैं, इनको छोड़ो । हे दौलतराम ! अब तू आत्मा के हितकारी-मार्ग में लग । जगत् के जञाल में भटकना त्याग कर अपनी आत्मा का ओर अच्छी तरह संलग्न हो ।

भावार्थ—भौतिक सुखो को प्राप्ति के लिए आत्मा अनात्मा का विचार न कर शरीर को कष्ट देने की जितनी क्रियाये की जाती है, सब मिथ्याचारित्र है । इन्ही के कारण जीव को अनेक गतियो मे भटकना पडता है । वह कभी पेड बनता है, कभी कीडा-मकोडा, कभी पशु-गति मे जाता है, तो कभी देव-गति और कभी घोर पाप के कारण नरक-गति के दु ख भोगता है । प्रत्येक गति मे उसे दु ख ही मिलता है । परिवर्तन के इस चक्र से छुटकारा पाने के लिए जीव को अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ उसी की ओर उन्मुख होना चाहिये । जब वह उसी मे खो जायेगा, तभी वह इन मिथ्या तत्वो से दूर हो पायेगा । भ्रम से निकल कर सत्य को पहचान पायेगा और परिवर्तन के चक्र से अपना उद्धार कर पायेगा ।

तृतीय ढाल

(नरेन्द्र छन्द) जोगीरासा

आत्महित शिव में है, जिसके दो मार्ग हैं

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातै, शिवमग लाग्यो चहिये॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण, शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथरूप सु निश्चय, कारन सो व्यवहारो॥ १ ॥

हित—कल्याण या भलाई, आकुलता—चिन्ता या दुःख, शिव—मोक्ष, माहि—मे, तातैं—इसलिये, मग—मार्ग, चरण—चारित्र, दुविध—दो प्रकार का, सत्यारथ-रूप—यथार्थ या सच्चा, कारन—हेतु।
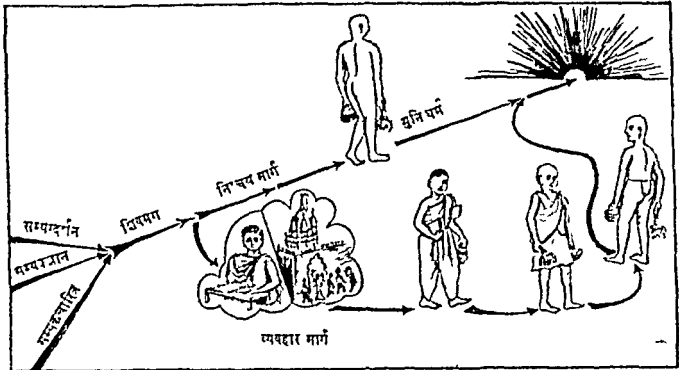
निश्चय रत्नत्रय का लक्षण

पर-द्रव्यनितैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त भला है।
आप रूप को जानपनो, सो सम्यक्ज्ञान कला है॥
आप-रूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित सोई।
अब व्यवहार मोख-मग सुनिये, हेतु नियत को होई॥ २॥
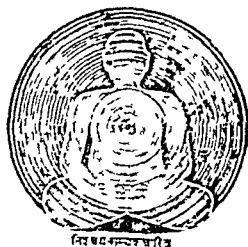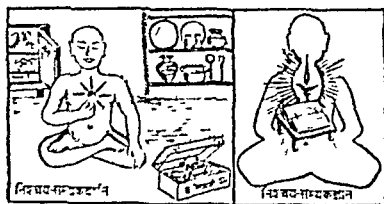
पर-द्रव्यनितैं—पर पदार्थों से, अपनी आत्मा से भिन्न पदार्थो से। **रुचि**—प्रीति, श्रद्धा। **आपमें**—अपनी आत्मा में, **सम्यक्त**—सम्यक्दर्शन, **आप-रूप**—अपनी आत्मा का स्वरूप, **जानपनो**—ज्ञान, **कला**—सुगढ़ता, **थिर**—स्थिर, अकम्प। **हेतु**—कारण, **नियत**—निश्चय।

अर्थ—पर याने दूसरे पदार्थों को अपनी आत्मा से भिन्न या जुदा जान कर अपनी आत्मा में प्रीति या श्रद्धा करना सम्यक्दर्शन है। अपने आत्म-स्वरूप का ज्ञान करना ही सम्यक्ज्ञान है। अपनी आत्मा के स्वरूप में स्थिरता से लीन रहना ही सम्यक्चारित्र है। अब व्यवहार मोक्ष-मार्ग का वर्णन करते हैं—उसे सुनिये, क्योंकि वह निश्चय-मोक्ष-मार्ग का कारण है।

भावार्थ—अपनी आत्मा में श्रद्धा रखना सम्यक्दर्शन है। इससे मनुष्य के ज्ञान-चक्षु खुलने लगते हैं। स्व और पर का सच्चा ज्ञान हो जाना ही सम्यक्ज्ञान है, जिससे जीव अनात्मा को उपेक्षा कर आत्मा में केन्द्रित होने लगता है। आत्मा के अतिरिक्त सभी परोप हैं, ऐसा चिन्तन कर मात्र आत्म-तत्व में रमण करना ही सम्यक्चारित्र है। इस निश्चय-मार्ग के साथ व्यवहार-मार्ग का ज्ञान होना भी आवश्यक है, क्योंकि वह भी मोक्ष-मार्ग में सहायक है। अतः व्यवहार-मार्ग का स्वरूप आगे बताते हैं।

जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा

वहिरातम, अन्तर-आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह जीव को एक गिने, वहिरातम-तत्त्व-मुधा है॥
उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर-आतम-ज्ञानी।
द्विविधसंग विन शुध-उपयोगी, मुनि उत्तम निज-ध्यानी॥ ४॥

त्रिधा—तीन प्रकार की, **मुधा**—मूढ़, मूर्ख। **जवन**—जघन्य, **द्विविध संग**—नो प्रकार के परिग्रह अर्थात् १४ प्रकार के अन्तरङ्ग और १० प्रकार के वहिरङ्ग रंग्रह, **शुध**—शुद्ध, **उपयोगी**—परिणामी. **अन्तर आतमज्ञानी**—अन्तरात्मा, **ıजध्यानी**—अन्तरात्मा या आत्मा का ध्यान करनेवाले।

अर्थ—जीव तीन प्रकार के होते हैं—१ वहिरात्मा, २ अन्तरात्मा, ३ परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को एक गिनते है, वे तत्वो के अजानकार मूढ वहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि जीव है। जो आत्मा को जानते हैं, वे अन्तरात्मा (सम्यक्‌दृष्टि) जीव है। ये अन्तरात्मा भी तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और जवन्य। जो २४ प्रकार के परिग्रह-रहित शुद्ध-परिणामी आत्मध्यानी मुनि है, वे उत्तम अन्तरात्मा है

भावार्थ—जीव का वास्तविक लक्ष्य है मोक्ष। जीव जब परमात्मा की दशा को प्राप्त होता है, तव मोक्ष का अधिकारी वनता है। जीव के तीन प्रकार है—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। वहिरात्मा शरीर, आत्मा या स्व और पर के भेद को न समभ अपना समय शारीरिक सौन्दर्य प्रसाधन और उसके सुख के लिये ही व्यर्थ गँवा देता है। इस प्रकार अपने अज्ञान के कारण ससार-चक्र मे भटकते हुए दु ख उठाता है। अन्तरात्मा, आत्मा और शरीर की भिन्नता को समझती है। यह अन्तरात्मा भी उत्तम, मध्यम और जघन्य—तीन प्रकार की होती है। ये आत्मा के विकास के तीन सोपान है। जघन्य अन्तर आत्मा पहला सोपान है, मध्यम अन्तर आत्मा उससे ऊँचा सोपान है। सव प्रकार के परिग्रह से रहित आत्मध्यानी मुनि उत्तम कोटि की अन्तरात्मा है। जीव आत्मा के इसी उत्तम स्वरूप द्वारा परमात्मा वनता है और यही उन्नति का चरम लक्ष्य है।

मोक्ष का लक्षण तथा व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण

सकल-करम तै रहित अवस्था, सो शिव, थिर सुखकारी।
इहिविधि जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्योहारी॥
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
येहु मान समकित को कारन, अष्ट अङ्ग-जुत धारो॥ १०
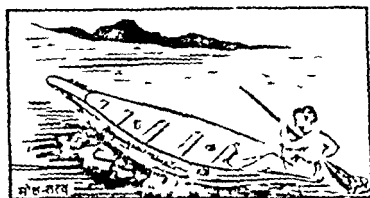
थिर—स्थिर, चिर, मान—मानो, जानो या समझो, धारो—धारण करो।

अर्थ—सब कर्मों से रहित अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं, जो स्थिर सुख देनेवाला है। इस प्रकार मोक्ष-तत्त्व का लक्षण हुआ। देखो चित्र नाव का सब पानी दूर हो गया, अब नाव स्वतन्त्र हो गई।

इस प्रकार सात तत्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) पर श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्दर्शन है। श्री जिनेन्द्र भगवान, सब परिग्रहों से रहित गुरु, दयामय धर्म—ये तीनों ही सम्यक्त्व के कारण समझो। इस सम्यक्त्व को उसके आठ अङ्गों सहित धारण करो।

भावार्थ—मनुष्य चिर-शान्ति चाहता है और यह मात्र मोक्ष में सुलभ है। मोक्ष तब प्राप्त होता है, जब कर्मों की पूर्ण निर्जरा हो जाती है, अर्थात् जीव अपने समस्त कर्मों का क्षय कर देता है, तब उसे चिर-सुख मिलता है। जिस प्रकार शान्त सागर में नौका बिना किसी कठिनाई के आगे बढ़ती है और मनुष्य इष्ट स्थान को प्राप्त कर सुखी होता है, उसी प्रकार मोक्ष में अबाधक चिर-सुख मिलता है, इस प्रकार सात तत्त्वों का श्रद्धान—व्यवहार सम्यक्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए उसे सम

देव अर्थात् परमात्मा का ध्यान करना चाहिए और सच्चे शास्त्रों का अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिए, अपरिग्रही दिगम्बर साधुओं की सेवा करना चाहिए। ये सच्चे देव, शास्त्र, गुरु भी सम्यक्त्व के अर्थात् उक्त सप्त तत्त्व के श्रद्धान में हेतु होते हैं। यह व्यवहार सम्यक्दर्शन, निश्चय-सम्यक्दर्शन में सहायक है। सम्यक्दर्शन ही मोक्ष-मार्ग है, अतः इसका पूर्वोक्त आठ गुण सहित पालन जीव को करना चाहिए।

सम्यक्त्व के २५ दोष व ८ गुण

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो।
शङ्कादिक वसु दोष विना, संवेगादिक चित पागो॥
अष्ट अङ्ग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपहु कहिये।
बिन जानेतें दोष-गुनन को, कैसे तजिये गहिये॥ ११॥

वसु—आठ, मद—घमण्ड, टारि—टालना, छोड़ना। निवारि—निवारण करना या हटाना, अनायतन—अधर्म के स्थान, संवेगादिक—संवेग अर्थात् पाँचों इन्द्रिय और मन को वश में करना आदि, त्रिशठता—तीन मूढ़ता।

अर्थ—आठों मदों को छोड़ो, तीनों मूढ़ताओं (खोटे देव, खोटे शास्त्र, खोटे गुरु) को मन से हटाओ, छः अधर्म के स्थानों को त्याग दो। शङ्का आदि आठ दोषों को दूर कर संवेगादि गुणों को चित्त में धारण करो। सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग और पचीस दोषों का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं, क्योंकि दोष और गुण जाने बिना कैसे कोई दोषों को त्यागे और गुणों को ग्रहण करे?

भावार्थ—जीव का इष्ट मोक्ष है। मोक्ष-मार्ग सम्यक्त्व का पालन है, अतः जीव को सम्यक्त्व का पालन करना चाहिए। पर इसके लिये सम्यक्त्व का पूरा ज्ञान अपेक्षित है, उसके आठ गुण, आठ मद, तीन मूढ़ता, ६ अनायतन, शंकादि ८ दोष सभी से जीव को भिज्ञ होना चाहिए और दोषों से जीव को सदा दूर रहना चाहिए।

करना, *निःकांक्षित अङ्ग है।* ३ मुनि के शरीर को मैला देख कर घृणा न करना, सो *निर्विचिकित्सा अङ्ग है।* ४ खरे और खोटे तत्वों (सिद्धान्तो) की पहिचान करना, सो *अमूढ दृष्टि अङ्ग है।* ५ अपने गुण और पर के दोष छिपाना या अपने धर्म की वृद्धि करना, सो *उपगूहन अङ्ग है।* ६ काम, क्रोध आदि किसी कारण के वश से धर्म से यदि कोई चलायमान हो तो उस समय जिस तरह बने अपने को और दूसरे को धर्म मे दृढ करना, सो *स्थितिकरण अङ्ग है।* ७ जैसे गाय बछड़े से प्रीति करती है, वैसे ही धर्म-बन्धुओ से प्रीति करना, *वात्सल्य अङ्ग है।* ८ जिन-धर्म की जैसे बने उन्नति या प्रचार अथवा प्रभावना करना, *प्रभावना अङ्ग है।* इस प्रकार सम्यक्त्व के ये ८ अङ्ग या गुण है। इन गुणो से विपरीत आठ दोष हैं, उनसे सदा बचना चाहिये। ८ दोष ये हैं—शङ्का, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।

भावार्थ—सम्यक्त्व के आठ गुण है। श्री जिन प्रभु की वाणी, उनके शास्त्र-ग्रन्थो पर पूर्ण आस्था रखनी चाहिए। सासारिक सुखो की इच्छा न करनी चाहिए। मुनि महाराज की सेवा करना, उनके कारण वहा रोग वमन आदि होने पर भी घृणा न करना, साथ ही तत्त्व और कुतत्त्व के भेद को समझने की सम्यक्‌दृष्टि का होना आवश्यक है। अपने गुणो और दूसरे के अवगुणो पर पर्दा डालना—दूसरे के अवगुणो पर पर्दा डाल कर ही हम उसका हृदय जीत सकते है, उसमे अपने धर्म के प्रति सद्भावना पैदा कर सकते हैं। कठिन से कठिन अवसर पर धर्म न छोडना ही जीव का कर्तव्य है। गिरते हुए को उठाना और अपने धर्म से च्युत न होना आवश्यक है। जिस प्रकार गाय बछड़े को प्यार करती है, उसी प्रकार अपने धर्म बन्धुओं से प्रीति करनी चाहिए, इससे द्वेष, कलुषता आदि अपने-आप समाप्त हो जाते हैं। मन्दिर आदि का निर्माण एवं जैन साहित्य का प्रचार कर धर्म का प्रसार करना चाहिए। ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं। इन गुणों के विपरीत आचरण दोष है, उनसे दूर रहना चाहिए।

आठ मद

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तो मद ठानै ।
मद न रूप को, मद न ज्ञान को, धन बल को मद भानै ॥ १३ ॥

तप को मद न, मद जु प्रभुता को, करै न सो निज जानै ।
मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै ॥

भूप—राजा, मातुल—मामा,
ठानै—करता है, भानै—नाश करे ।
मल—दोष ।

अर्थ—सम्यक्‌दृष्टि जीव पिता आदि पितृपक्ष के, मामा आदि मातृपक्ष के, राजा आदि होने का घमण्ड नही करता है । अपने रूप का, अपने ज्ञान का, धन-सम्पत्ति का, अपनी शक्ति का, तपस्या का, अपने उच्चपद का भी घमण्ड नही करता है । जो इन पर-वस्तुओं का घमण्ड नही करता है, वही अपने 'निज-स्वरूप' या आत्मा को समझता है । यदि घमण्ड करे तो ये आठ दोष उसके सम्यक्त्व को मलिन कर देते है ।

भावार्थ—सम्यक्दृष्टि जीव सांसारिकता से दूर रहता है, इस कारण वह ससार की किसी भी वस्तु पर गर्व नही करता, वह आत्मा-अनात्मा, स्व और पर के भेद को समझता है, इस कारण मातृक-पैतृक कुल या धन का, रूप का, ज्ञान का, बल, तप, प्रभुता आदि का किसी का भी घमण्ड नही करता, क्योंकि वह जानता है कि ये आत्मा को पावन बनानेवाले नही हैं, इनका सबध बहिरात्मा से है, अन्तरात्मा से नही। यदि जीव इनमे गर्व करता है, इसका मतलब ही है कि वह सम्यक्त्व से दूर है, क्योंकि उसे आत्मा और अनात्मा का भी ज्ञान नही।

छः अनायतन और तीन मूढ़ता

कुगुरु-कुदेव-कुवृप-सेवक की, नहिं प्रशस उचरै है।
जिनमुनि जिनश्रुत विन, कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करै है॥ १४॥

कुवृप—खोटा धर्म, **उचरै**—कहता है, **जिन**—जिनेन्द्रदेव, **जिनश्रुत**—जिनेन्द्र की कही हुई वाणी या शास्त्र, **विन**—सिवाय, **सेवक**—भक्त।

अर्थ—खोटे-गुरु, खोटे-देव, खोटा-धर्म और इन तीनो के सेवक खोटे-गुरु के भक्त, खोटे-देव के भक्त और खोटे-धर्म के भक्त—ये छः अनायतन हैं, इन छहों को सम्यक्दृष्टि जीव कभी प्रशंसा नहीं करता है। यदि प्रशंसा करे तो, उसे दोष लगता है। सिवाय जिनेन्द्र, सच्चे मुनि और जिनेन्द्र कथित शास्त्रों के किसी कुदेव, कुगुरु या कुशास्त्र को सम्यक्दृष्टि नमस्कार नही करता है। यदि करता है तो, उसके मूढता नामक दोष लगता है।

भावार्थ—सम्यक्दृष्टि जीव को जिनवाणी, जिन-मुनि पर ही श्रद्धान होता है, क्योंकि यही विश्वसनीय है, मोक्ष-मार्ग पर निश्चयपूर्वक ले जानेवाले हैं, इसके विपरीत कुगुरु, कुदेव और कुधर्म तथा इनकी सेवा करनेवाले इनके भक्त नियम से वस्तु-तत्व के श्रद्धान व ज्ञान मे भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं, अत जीव को सच्चे और खोटे गुरु, देव तथा उनकी वाणी के अन्तर को भलीभाँति समझ उचित आचरण करना चाहिए।

अव्रती सम्यक्दृष्टि भी इन्द्रों से श्रेष्ठ पूज्य

दोपरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यक्दर्श सजे है।
चारितमोहवश लेश न सजम, पै सुरनाथ जजे है॥
गेही, पै गृह मे न रचे ज्यो, जलतै भिन्न कमल हैं।
नगरनारि को प्यार यथा, कादे मे हेम अमल है॥ १५॥

सुधी—बुद्धिमान, सजे—शोभायमान, लेश—किंचित् भी, थोडा, सयम—व्रतादि, सुरनाथ—इन्द्र, जजै—पूजन है, गेही—गृहस्थ, नगर-नारि—वेश्या, कादे—कीचड, हेम—सोना, रचै – आसक्त।

अर्थ—२५ दोषों से रहित और ८ गुणों सहित ऐसे सम्यक्दर्शन से जो बुद्धिमान शोभायमान है वह यद्यपि चारित्र मोहनीय-कर्म के उदय से किंचित् भी व्रतादि नहीं कर सका है, तो भी उसे इन्द्र भी पूजते है। यद्यपि वह गृहस्थ है, फिर भी गृह कुटुम्बादि में वह आसक्त नहीं है—जसे कमल जल में रहते हुए भी उससे भिन्न है या वेश्या के प्यार जैसा केवल दिखाऊ प्रेम उसका गृह कुटुम्बादि पर है। अथवा जैसे कीचड में पडा सोना यद्यपि ऊपर से कीचड में सना हुआ दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वह निर्मल है। (इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि की अवास्तविक आसक्ति गृह-कुटुम्बादि पर-पदार्थों पर रहती है, पर वास्तव में उसका अन्तर निज-निधि की ओर दृष्टि लगये रहता है।)

भावार्थ—सर्वाङ्ग-सम्यक्‌दृष्टि के लिए आवश्यक वस्तु है अपनी निज-निधि आत्मा की ओर दृष्टि लगाये रखना, उसमे सम्यक्‌ज्ञान की ज्योति का जलना। यदि ऐसा है तो, चारित्र-मोहनीय-कर्मो के उदय से उसे कैसा भी आचरण क्यो न करना पडे, वह सदा पूजनीय है। इन्द्र आदि देवता भी उसकी पूजा करते हैं। गृहस्थी मे रहते हुए भी वह उसमे लिप्त नही रहता। व्यावहारिक जीवन जीते हुए भी वह वास्तव मे अपनी आत्मा मे ही खोया रहता है, ऐसा जीव वास्तव मे पूजनीय है।

सम्यक्त्व की महिमा

प्रथम नरक विन पट्-भू ज्योतिप, वान भवन पढ नारी।
थावर विकलत्रय पशु मे नहि, उपजत समकितधारी॥
तीनलोक तिहुं काल माहि नहि, दर्शनसम सुखकारी।
सकल धरम को मूल यही इस, विन करनी दुखकारी॥ १६॥

पट्‌भू—छहो पृथ्वी (नरक), वान—व्यन्तर, थावर—स्थावर, पंढ—नपुसक, विकलत्रय—दो इन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। करनी—धर्म-कर्म, क्रियाये। भवन—भवनवासी देव।

अर्थ—सम्यक्त्वी जीव पहिले नरक के सिवाय शेष छः नरकों में, ज्योतिषी व्यन्तर, भवनवासी देवो में, नपुंसको में, स्त्रियों में, स्थावरों में, दो इन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों में तथा पशु पर्याय में जन्म धारण नही करता।

तीनों लोकों और तीनो कालों में सम्यक्दर्शन के समान अन्य कोई भी सुख देनेवाला नहीं है। सब धर्मों की जड यही है। विना सम्यक्दर्शन के सब क्रियायें केवल दुःख देनेवाली हे।

भावार्थ—जीव का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है, क्रमशः कर्मों को निर्जरा करता हुआ उच्च से उच्चतर गति पाता हुआ, जीव अन्त मे उच्चतम मोक्ष-गति को प्राप्त होता है, जहाँ से फिर उसे भटकना नही पडता। जीव को जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तब वह नीच गति मे नही जाता। प्रथम नरक के सिवा छ नरको, हीनदेव गति (भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिषी देव), नारी, नपुंसक स्थावर से चतुरिन्द्रिय तक तथा पशु पर्याय उसे धारण नही करनी पडती। संक्षेप मे सम्यक्दर्शन की महिमा अपार है, यही सच्चा मोक्ष मार्ग-धर्म है। इसके बिना सारी शारीरिक क्रियाये मिथ्या है, यदि यह है तो सब कुछ है, (चिर-शान्ति का मार्ग है) अन्यथा सब व्यर्थ है। केवल दुख का ही कारण हैं या स्वय दु ख-रूप हे।

सम्यक्दर्शन की महानता

मोक्षमहल की प्रथम सीढी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारौ भव्य पवित्रा॥
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥ १७॥
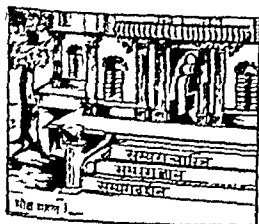
प्रथम—पहला, सयाने—समझदार, नरभव—मनुष्य-पर्याय।

अर्थ—सम्यक्दर्शन ही मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी है। (बिना पहिले इस पर आये मोक्ष-रूपी महल मे प्रवेश असम्भव है।) इसके बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या बने रहते हैं, वे सम्यक् माने ही नहीं जाते हैं। इससे हे भव्य ! ऐसे पवित्र सम्यक्दर्शन को धारण करो। (कवि अपने को सम्बोधन कर कहते हैं।) हे दौलतराम ! तू समझ, फिर सुन, फिर सचेत हो जा। तू समझदार है, इससे समय व्यर्थ बर्बाद मत कर। समझ ले कि यदि इस पर्याय में सम्यक्दर्शन तुझे प्राप्त नहीं हुआ तो (तेरा मनुष्य-जन्म वृथा गया) पुनः यह मनुष्य-पर्याय मिलना बहुत कठिन है।

भावार्थ—मोक्ष-रूपी महल मे प्रवेश करने के लिये सम्यक्त्व प्रथम सोपान है, लेकिन इसमे जीव को जिसकी सर्वप्रथम आवश्यकता है, वह है सम्यक्दर्शन। इसके बिना उसका ज्ञान, चारित्र सब व्यर्थ है, क्योंकि यही जीव को अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कराता है, जिसके बिना उसके ज्ञान और चारित्र स्वत मिथ्या हो जाते हैं, उनका कोई मूल्य नही रहता।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है, यह यो ही सहज मे नही मिल जाता। ऐसे दुर्लभ जीवन के एक-एक क्षण का जीव को सदुपयोग करना चाहिए, यदि इस पर्याय मे इसे सम्यक्दर्शन नही हुआ तो पुन यह पर्याय मिलना कठिन है।

तीसरी ढाल से सम्बन्धित कुछ ध्यान देने योग्य बातें

१ **छन्द**—तृतीय ढाल का 'जोगीरासा' छन्द है। इसे 'नरेन्द्र' छन्द भी कहते हैं। इसमे ४ चरण होते हैं और प्रत्येक चरण मे २८ मात्रायें होती हैं। पहिले १६ फिर १२ मात्राओ पर विराम होता है और तुकान्त में लघु-लघु-दीर्घ का क्रम रहता है।

२ **इस ढाल के भेद-संग्रह**—

परिग्रह (२) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग।

बहिरङ्ग परिग्रह (१०) क्षेत्र, मकान, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन।

अन्तरङ्ग परिग्रह (१४) कषाय ४, नो-कषाय ९, मिथ्यात्व १।

आस्रव	(५७)	मिथ्यात्व ५, अविरत १२, कषाय २५, योग १५।
नो कर्म	(३)	औदारिक, वैक्रियिक और आहारादिका शरीर।
द्रव्य-कर्म	(८)	ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, मोहनीय, अन्तराय।
प्रमाद	(१५)	विकथा ४, कषाय ४, इन्द्रिय ५, निद्रा १, प्रणय १।
मद	(८)	जाति-मद, कुल-मद, रूप-मद, ज्ञान-मद, धन-मद, बल-मद, तप-मद और प्रभुता-मद।
मिथ्यात्व	(५)	विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान।
कारण	(२)	उपादान और निमित्त।

३ इस ढाल के युग्मों का अन्तर—

(i) **भाव-आस्रव—भाव-बन्ध**—जीव के मोह राग-द्वेष-रूपी परिणाम भाव-आस्रव हैं, जिन भावों से कर्म बधे वे भाव-बंध हैं।

(ii) **मूढता—अनायतन**—कुदेवादि की सेवा, पूजा और विनय मूढ़ता है, कुदेव स्थानादि अनायतन है।

(iii) **जाति-कुल**—माता के वंश को, जाति कहते हैं और पिता के वंश को, कुल कहते हैं।

(iv) **सामान्य—विशेष गुण**—प्रत्येक वस्तु में सामान्य गुण भी होते हैं और विशेष गुण भी होते हैं। जैसे गाय पशु भी है और गाय भी है।

(v) **निकल सकल-परमात्मा**—सम्पूर्ण कर्मों से रहित, अशरीरी या सिद्ध भगवान निकल-परमात्मा है और चार घातिया-कर्मों के नाश करनेवाले केवलज्ञानी या अरहन्त भगवान शरीर-सहित हैं, वे सकल-परमात्मा हैं।

४. **लाक्षणिक शब्द समझिये—**

अनायतन, अरहन्त, अविरति, कषाय, घातिया, चारित्र-मोह, देश-व्रती, नो-कर्म, निमित्त-कारण, पुद्गल, प्रमाद, प्रशम, मद, भाव-कर्म, लोक-मूढ़ता, मिथ्यादृष्टि, शुद्धोपयोग, संवेग, निर्वेद (दे परिशिष्ट 'क' में।)

चौथी ढाल

(रोला छन्द)

सम्यक्ज्ञान का लक्षण

सम्यक्श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यक्ज्ञान।
स्वपर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रकटावन भान ॥

सम्यक् श्रद्धा—सम्यक्दर्शन, स्वपर—आत्मा तथा पर-पदार्थ, अर्थ—वस्तु, धर्मजुत—गुणों सहित।

अर्थ—सम्यक्दर्शन धारण करने के पश्चात् सम्यक्ज्ञान की सेवा करो। जो ज्ञान आत्मा तथा पर-पदार्थों को उनके अनेक गुणों सहित सूर्य के समान स्पष्ट कराता है, उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—मोक्ष-मार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यक्दर्शन है, इस सीढ़ी पर पहुँच कर ही जीव को रुकना नहीं चाहिए, उसे सम्यक्ज्ञान के लिये प्रयास करना चाहिए। सम्यक्ज्ञान से आत्मा और अनात्मा के गुण-दोष स्पष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही संसार के समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई देने लग जाते हैं। इस स्पष्टता के पश्चात् जीव निश्चयपूर्वक निर्भय हो आगे बढ़ता है।

सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान में अन्तर

सम्यक्‌साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान, दुहू मे भेद अबाधो॥
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत होतै हू, प्रकाश दीपकतै होई॥ १॥
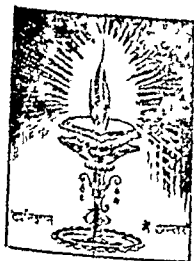
साथै—साथ ही, उसी समय। अराधो—समझो, जान—ज्ञान, अबाधो—बाधा-रहित, कारज—कार्य या फल, युगपत—एक-साथ या उसी समय, होतैं हू—होते हुए भी।

अर्थ—सम्यक्‌दर्शन के साथ ही सम्यक्‌ज्ञान होता है, फिर भी उसको अलग-अलग समझना चाहिये। सम्यक्‌दर्शन का लक्षण है—सच्ची श्रद्धा या विश्वास और सम्यक्‌ज्ञान का लक्षण है ठीक ज्ञान। इस प्रकार इन दोनों में भेद (बाधा-रहित) है। सम्यक्‌दर्शन को कारण समझो और उसका कार्य सम्यक्‌ज्ञान है। दोनों एक-समय एक-साथ उत्पन्न होते हुए भी कारण-कार्य भेद से भिन्न है, जैसे दीपक के जलने के साथ प्रकाश होता है, तो भी दीपक प्रकाश का कारण माना जाता है।

भावार्थ—सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान दोनो मोक्ष-मार्ग की अनिवार्य सीढ़ियाँ है, दोनो का प्रादुर्भाव प्राय साथ ही होता है, पर इनमे पर्याप्त भिन्नता है। प्रथम मे श्रद्धा की प्रधानता है और द्वितीय मे ज्ञान। जब हम किसी पर श्रद्धा करते है, तभी हम उसका सान्निध्य भी प्राप्त कर सकते है। अश्रद्धा के उपकरण से तो हम दूर रहना चाहते है और तब उसका सम्यक्‌ज्ञान भी नही है। इस प्रकार सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान दोनो मे कार्य-कारण संबध है। जैसे दीपक और प्रकाश—दीपक के जलने के साथ प्रकाश होता है, पर दोनो के कार्य मे समानता होते हुए भी दोनो भिन्न है, कार्य-कारण है।

सम्यक्ज्ञान के भेद, परोक्ष और देश प्रत्यक्ष के लक्षण

तास भेद दो हे परोक्ष, परतक्ष तिनमाही।
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनते उपजाही॥
अवधिज्ञान मनपर्जय, दो है देशप्रतच्छा।
द्रव्यक्षेत्र-परिमान-लिये, जानै जिय स्वच्छा॥ २॥

तास—उसक अर्थात् सम्यक्ज्ञान के, **परोक्ष**—इन्द्रिय और मन के द्वारा प्राप्त ज्ञान, **अक्ष**—इन्द्रिय, **प्रतच्छा**—प्रत्यक्ष या वह ज्ञान जो आत्मा स्वय विना किसी सहायता से जाने, **परिमान**—मर्यादा, **स्वच्छ**—स्पष्ट।

अर्थ—सम्यक्ज्ञान के दो भेद है, परोक्ष और प्रत्यक्ष। मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान—ये दो परोक्ष है, क्योंकि वे इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष के दो भेद है—देश-प्रत्यक्ष और सकल-प्रत्यक्ष। अवधि-ज्ञान और मन.पर्यय-ज्ञान—ये दो एक देश प्रत्यक्ष है, क्योंकि द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा लिये जानते हैं तथा विना किसी की सहायता के स्पष्ट जानते हैं।

भावार्थ—सम्यक्ज्ञान के दो भेद हैं, प्रत्यक्ष-ज्ञान और परोक्ष-ज्ञान। प्रत्यक्ष-ज्ञान मे आत्मा को किसी माध्यम की आवश्यकता नही पड़ती, जव कि परोक्ष-ज्ञान मे मन या पञ्च इन्द्रियो की सहायता लेनी पडती है, मति और श्रुति ये दो परोक्ष-ज्ञान हैं। इनमे अध्ययन, श्रवण, चिन्तन, मनन आदि करना पडता है, जिसमे इन्द्रियो की भी सहायता लेनी पडती है और मन की भी, पर प्रत्यक्ष-ज्ञान ऐसा नही होता। प्रत्यक्ष-ज्ञान दो तरह का होता है—सकल-प्रत्यक्ष और देश-प्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है, इसके द्वारा तीनो लोको का समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। देश-प्रत्यक्ष-ज्ञान सीमित ज्ञान है, इसमे ज्ञेय पदार्थ भी सीमित रहता है और स्थान भी। किसी सीमित स्थान की सीमित वस्तुओ, व्यक्तियो का ही ज्ञान हो पाता है। इस ज्ञान के अवधि और मन पर्यय दो भेद-रूप हैं। इस प्रकार महत्वपूर्ण सम्यक्ज्ञान के भी अनेक भेद-उपभेद हैं।

सम्यक्ज्ञान के भेद उपभेद
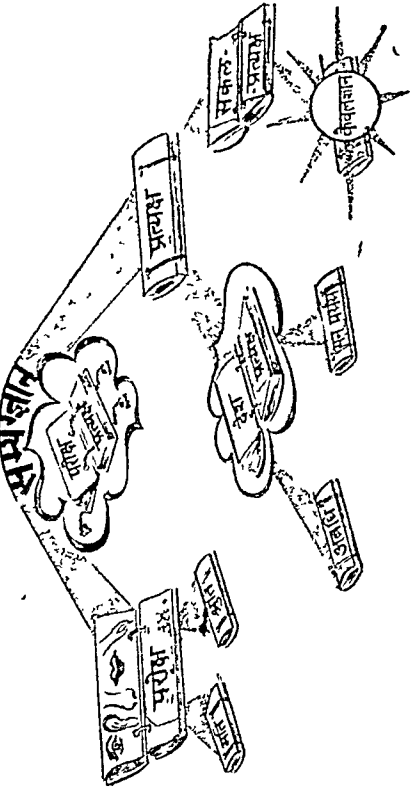
केवलज्ञान का लक्षण और ज्ञान की महिमा

सकल द्रव्य के गुन अनन्त, परजाय अनन्ता।
जाने एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता॥
ज्ञान समान न आन, जगत मे सुख को कारन।
इहि परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग-निवारन॥ ३॥

परजाय—पर्य्याय, दशाएँ। **केवलि भगवन्ता**—केवली भगवान, **आन**—अन्य, दूसरा **जन्म-जरा-मृतु**—जन्म, बुढ़ापा और मरण **रोग-निवारन**—रोग हटाने को, **इहि**—इह या इस ससार मे।

अर्थ—पाचवाँ सम्यक्ज्ञान केवलज्ञान है—वह सकल-प्रत्यक्ष है। संपूर्ण द्रव्यों को उनके अनन्त गुणो और पर्य्यायो सहित एक ही समय में केवली भगवान स्पष्ट जानते हैं। ज्ञान के समान संसार मे कोई सुख देनेवाली वस्तु नही है। इस संसार मे ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ अमृत है जो जन्म, बुढापा और मृत्यु की बीमारी को हटा सकता है, अर्थात् ससार के आवागमन को समाप्त कर सकता है।

भावार्थ—सम्यक्ज्ञान के भेदो-उपभेदो मे सर्वोत्तम स्थान पर सकल-प्रत्यक्ष केवलज्ञान ही प्रतिष्ठित है, यह ज्ञान तीनो लोको के, तीनो कालो के सभी पदार्थों को अपने गुणो और पर्यायो सहित एक साथ स्पष्ट रूप से जान लेता है। ज्ञान ससार की सर्वोत्कृष्ट वस्तु है, यह निश्चयपूर्वक सुख का कारण है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और जीव जन्म-मरण के आवागमन के चक्र से छुटकारा पा जाता है। मोक्ष-प्राप्ति बिना सम्यक्ज्ञान के सभव नही।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म-निर्जरा में अन्तर

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान विन कर्म झरै जे ।
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्तितै सहज टरे ते ॥
मुनि-व्रत धार, अनन्त-वार ग्रीवक उपजायो ।
पै निज आतम-ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥ ४ ॥

ज्ञान बिन तप

ज्ञान बिन सुख ?
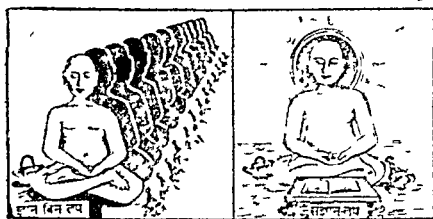
कोटि—करोडों, झरैं—नष्ट हो, त्रिगुप्ति तैं—मन, वचन, काय को रोकने से, टरैं—टल जाते हैं, नष्ट होते हैं। ग्रीवक—१६ स्वर्गों के ऊपर ६ ग्रैवेयक विमान हैं, वहां तक मिथ्यादृष्टि जन्म ले सकते हैं।

अर्थ—ज्ञान के विना अज्ञानी जीव करोडों जन्मों मे तप कर के जितने कर्मों को नष्ट करता है, उतने कर्म ज्ञानी जीव एक क्षण-भर मे अपने मन-वचन-काय को रोकने से सहज मे नष्ट कर देता है। इस जीव ने अनन्त वार मुनि-व्रत धारण किया और नव-ग्रैवेयक विमानों में भी उत्पन्न हुआ, लेकिन विना आत्म-ज्ञान के कहीं उसे सुख का लवलेश भी प्राप्त नहीं हुआ।

भावार्थ—मोक्ष के लिये मात्र शरीर को कष्ट देना ही आवश्यक नही है। इसके लिये सर्वप्रथम ज्ञान की आवश्यकता पडती है। अज्ञानी जीव के करोडो वर्षों की तपस्या का वही महत्व है, जो ज्ञानी की क्षण-भर की त्रिगुप्ति का। अनेक वार मुनि-व्रत धारण करने पर भी, स्वर्गों से ऊपर नवग्रैवेयक विमान मे स्थान पाने पर भी अज्ञानी को सुख नही मिलता, क्योंकि सुख का कारण है आत्म-ज्ञान। विना आत्म-ज्ञान के शान्ति मिल नही सकती। और अज्ञानी वह है, जिसे इस का ज्ञान नही रहता। अत मोक्ष के लिये ज्ञान अत्यावश्यक है।

ज्ञान प्राप्ति के उपाय तथा मनुष्य पर्याय की दुर्लभता

तातैं जिनवर कथित तत्त्व, अभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लखि लीजै॥
यह मानुष-पर्याय, सुकुल, सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी॥ ५॥

जिनवाणी का अभ्यास

मानव तन मिलना दुर्लभ

तातैं—इसलिये, **अभ्यास करीजे**—निरन्तर पढ़िये, **संशय**—शंका करना, किसी निश्चय पर न आना, जैसे यह सर्प है या रस्सी? **विभ्रम**—विपरीत मानना, जैसे रस्सी को सर्प समझना। **मोह**—आसक्ति, **सुकुल**—उच्च कुल, **सुमणि**—उत्तम रत्न, **समानी**—समायी हुई या डूबी हुई।

अर्थ—इससे श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए तत्वों को पढ़ना या अध्ययन करना चाहिये और संशय, विभ्रम और मोह को छोड़ कर अपनी आत्मा को पहिचानना चाहिये। यह मनुष्य-पर्याय पाना, उसमें भी उत्तम-कुल पाना अति दुर्लभ है। जो अभी तुझे प्राप्त है, यदि बिना आत्म-ज्ञान के इस दुर्लभ अवसर को खो दिया तो इसका फिर से मिलना वैसा ही कठिन है, जैसे विशाल समुद्र में डूबे हुये किसी उत्तम-रत्न का पुनः मिलना कठिन है।

भावार्थ—आत्म-ज्ञान की सबसे उच्च व उत्तम अवस्था श्री जिनेन्द्र भगवान को है, अत उनकी वाणी का मनुष्य को पूर्ण अनुसरण करना चाहिए। इससे ही उसे आत्म-ज्ञान होगा। इसके लिये आवश्यक है कि हृदय से शका, भ्रम, मोह आदि का त्याग कर दिया जाये, क्योकि आत्म-ज्ञान निश्चयात्मक राग-द्वेष से रहित होता है। आत्म-ज्ञान का प्रयास जीव को इसी मनुष्य-गति मे करना चाहिये, क्योकि यह पर्याय-उत्तम श्रावक कुल-जिनवाणी श्रवण का प्रसग आदि अवसर दुर्लभ है। यदि एक बार अवसर चूक गये तो, दुबारा इसका मिलना कठिन है, वैसे ही जैसे समुद्र मे फेकी गयी श्रेष्ठ मणि का पुन मिलना।

ज्ञान के सिवाय सब अस्थिर है, विवेक को अपनाओ

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे॥
तास ज्ञान को कारन, स्व-पर-विवेक बखान्यो।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आन्यो॥ ६॥
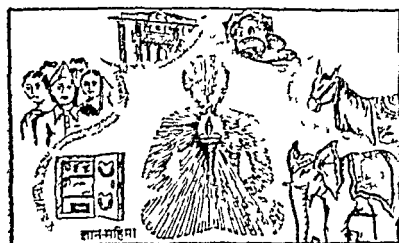
धन-दौलत कुछ काम के नही

गज—हाथी, बाज—घोड़ा, समाज-कुटुम्ब-कबीला, समूह। अचल—स्थायी।

अर्थ—धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-कबीला, हाथी, घोड़े, राज्य आदि कोई भी आत्मा के काम नहीं आता है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, उससे ज्ञान ही आत्मा के साथ स्थायी-रूप से रहता है। उस ज्ञान का मुख्य कारण या हेतु अपने और पराये का विवेक या भेद-विज्ञान होना कहा है। सो हे भव्य! करोड़ों उपायो द्वारा जैसे बने वैसे इस भेद-विज्ञान को हृदय मे धारण करो।

भावार्थ—जीव का यदि कोई चिरसंगी है तो ज्ञान, वही उसे सुखी बनाता है। इस ज्ञान का कारण है विवेक अर्थात् जीव का अपने वास्तविक स्वरूप और अपने से भिन्न पर-स्वरूप का ध्यान। यह भेद ज्ञान है। विवेक के कारण जीव यह जानने लगता है कि उसकी वास्तविक निधि आत्मा का क्या स्वरूप है। महल, रथ, हाथी, घोड़े, हीरे, जवाहिरात, तो समय के साथ दूर चले जाते है, इनके रहने का भरोसा नही। कल ही इन्हे चोर चुरा सकता है, कोई छीन सकता है, या ये नष्ट हो सकते है, पर आत्म-तत्त्व तो सदैव अपना है। आत्म-तत्त्व को पहचान कर ही जीव उच्च-गति पाता है और यह ज्ञान विवेक से ही सम्भव है। अत जीव को इस भेद-ज्ञानी विवेक के लिये सतत् प्रयास करना चाहिए। जैसे बने इसे प्राप्त करने मे ही जीव का कल्याण है, अन्यथा नही।

सम्यक्ज्ञान का महत्व और विषय-चाह रोकने का उपाय

जे पूरव शिव गये, जाहि, अब आगे जे है।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै है॥
विषय-चाह-दव-दाह, जगत्-जन अरनि दभावे।
तासु उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुभावे॥ ७॥
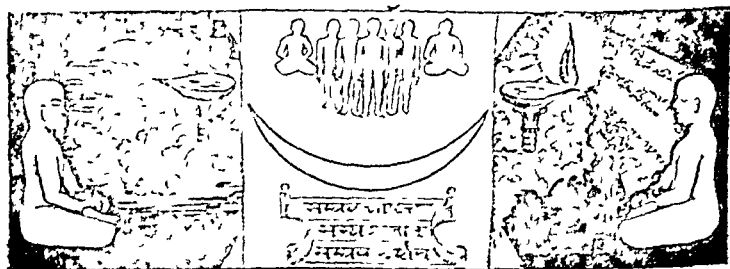
पूरव—भूतकाल में, जाहि—जा रहे है, दव दाह—दावाग्नि या वन मे लगी भयकर अग्नि, अरनि—वन, जगल। दझावे—जलाती है, ज्ञान-घन-घान—ज्ञान-रूपी मेघो के समूह, मुनिनाथ—श्री जिनेन्द्र भगवान।

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि जो जीव भूतकाल में मोक्ष गये, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जावेगे, उन सबके लिये ज्ञान का ही प्रभाव रहा है। पंचेन्द्रियों के विषयों की चाह दावाग्नि के समान है, जो जगत् के जन-समूह-रूपी जङ्गल को घेर कर जला रही है।। इस दावाग्नि को ज्ञान रूपी मेघ-समूह ही बुझा सकते है, अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता है। अर्थात् विषय-वासना को ज्ञान से ही रोका जा सकता है।

भावार्थ—भूत, वर्तमान और भविष्य मे जितने भी जीव मोक्ष गये है और जायेगे, वे सम्यक्‌ज्ञान के कारण ही गये है और जा सकेगे। मोक्ष के लिये सम्यक्-तत्त्व अनिवार्य सोढ़िया है। अत भेद-ज्ञान को अवश्य समझना चाहिए। क्योकि स्व और पर का भेद समझे बिना मोक्ष की स्थिति आ ही नही सकती। अरहन्त और सिद्ध स्थिति की प्राप्ति हो ही नही सकती। मोक्ष प्राप्ति कर्मों की पूर्ण निर्जरा से होती है और कर्मों के बध के कारण है विषय-तत्त्व। इस ससार-रूपी वन मे विषय दावाग्नि लगी है, यहाँ के जीव इसकी लपटो से झुलस रहे है, उन्हे बचाने के लिए जल की आवश्यकता नही है, वह तो केवल ज्ञान-रूपी मेघो से ही रोकी जा सकती है। इस अज्ञानमय ससार का ज्ञान से ही उद्धार हो सकता है, कल्याण हो सकता है।

पुण्य-पाप के फल में हर्ष-विषाद का निषेध

पुण्य-पाप-फलमाहिं, हरष विलखौ मत भाई।
यह पुद्गल-परजाय, उपजि विनसै थिर नाई॥
लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लावो।
तोरि सकलजग-दन्द-फन्द, निज आतम ध्यावो॥ ८॥
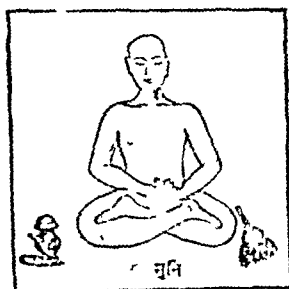
विलखौ—शोक करो, विषाद करो। **परजाय**—पर्याय, **विनसै**—नष्ट होती है, **थिर नाई**—स्थिर नहीं है, **दन्द-फन्द**—आल-जाल, रगडे-झगडे।

पुद्गल की पर्य्यायें है, जो पैदा होती हैं और नष्ट भी हो जाती हैं, स्थिर नही रह पातीं। लाख वात की वात यही है, मेरी इस वात पर हृदय से प्रतीति करो कि हे भाई ! जगत् के आल-जाल को तोड़ कर तुम अपनी आत्मा का चिन्तन करो। (अर्थात् सांसारिक धन्धों से समय निकाल कर कुछ अपनी आत्मा की ओर ध्यान दो। साता और असाता मे कुछ धरा नही है, वे तो वदली की छाह के समान आती और जाती है, स्थिर नही रहती।)

भावार्थ—पुण्य का फल मनुष्य हसते हुए भोगता है। स्त्री-पुरुष, धन-सम्पत्ति से सम्पन्न व्यक्ति अपने को सुखी समझता है, जव धन नही रहता, इससे वह तङ्ग आ जाता है, तो दु खी होता है। पर यह सव जीव का अज्ञान है, ज्ञान हो जाने पर तो, वह इन गोरख-धन्धो से ऊपर उठ जाता है, ये तो नश्वर सुख है, सच्चा सुख तो आत्म-चिन्तन से मिलता है, जो शाश्वत हे। अत यह उपदेश लाखो उपदेशो मे सर्वोत्तम है कि जीव को ससार के इन नश्वर सुखो से दूर आत्म-चिन्तन मे लगना चाहिए, जो मोक्ष का निश्चय-मार्ग है।

सम्यक्चारित्र पालन और उसके भेद अहिंसा, सत्य अणुव्रत के लक्षण

सम्यक्ज्ञानी होय, वहुरि दृढ चारित लीजै।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै॥
त्रस-हिंसा को त्याग, वृथा थावर न संघारै।
पर-वधकार कठोर निन्द्य, नहिं वयन उचारै॥ ९॥

चारित्र के भेद

सकल देश
अणुव्रत
गुणव्रत
शिक्षाव्रत
अहिंसा
सत्य
अचौर्य
ब्रह्मचर्य
परिग्रह परिमाण
दिग्व्रत
देशव्रत
अनर्थदण्ड त्याग
अपध्यान
पापोपदेश
प्रमादचर्या
हिंसादान
दुःश्रुति
सामायिक
भोगोपभोग परिमाण
अतिथि संविभाग
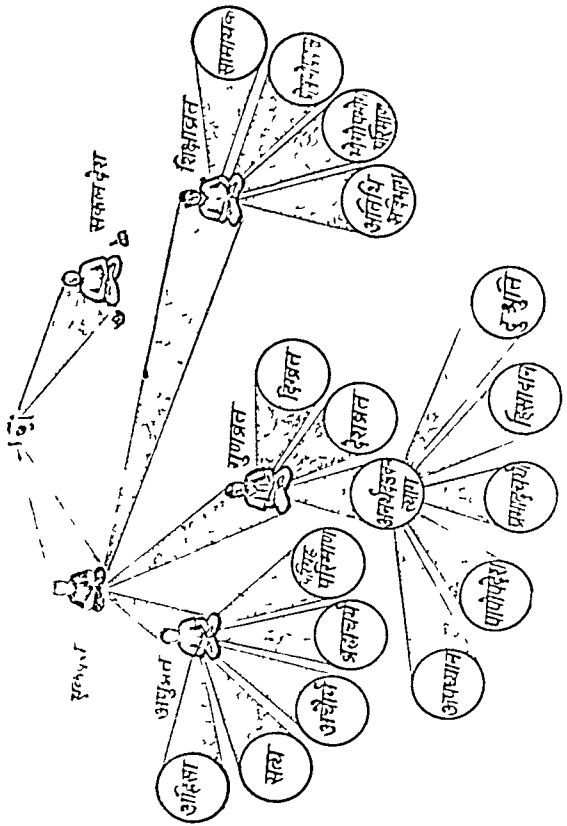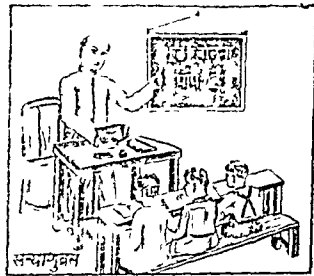
एकदेश—अंशमात्र, सर्वदेश—पूर्णांश मे, पूरी तरह। थावर—स्थावर। संवारै—सघारैं, नष्ट करैं। पर-वधकार—दूसरो के प्राण लेनेवाले।

अर्थ—सम्यक्ज्ञानी होकर फिर सम्यक्चारित्र को दृढता से पालन करना चाहिये। सम्यक्चारित्र के दो भेद है, एकदेश अर्थात् अंशतः चारित्र पालन करना और सकलदेश अर्थात् पूर्णतः चारित्र पालन करना। (सकलदेश चारित्र केवल मुनि पालन करते है, जिसका वर्णन आगे पाँचवी और छठी ढाल में होगा। यहा एकदेश चारित्र का ही वर्णन करते है, जिसे श्रावक पालन करते है। श्रावको के १२ व्रत होते है, उन्हें क्रम वार वर्णन करते है।)

एकदेश चारित्रधारी श्रावक त्रस जीवो की हिंसा का त्यागी होता है और एकेन्द्रिय (स्थावर) जीवो का भी अनावश्यक नाश नहीं करता है। (यह पहिला अहिंसाणुव्रत है।) वह ऐसे वचन भी नहीं बोलता है, जो दूसरे के लिये प्राण-घातक हों, कठोर हो या निन्दा के योग्य हो। (यह दूसरा सत्याणुव्रत है।)

भावार्थ—सम्यक्ज्ञान के पश्चात् सम्यक्चारित्र का स्थान है। मोक्ष-मार्ग की अन्तिम सीढी यही है। इसके पालन के लिये दृढ़ता की आवश्यकता है। पूर्ण दृढ़ता से चारित्र का पालन मुनि करते है, वे सकल चारित्र का पालन करते है। श्रावक इतनी अधिक दृढ़ता न रहने के कारण पूर्ण चारित्र का पालन नही कर पात, अत वे एकदेश (आंशिक) चारित्र का पालन करते है। श्रावको के बारह व्रत है।

इन तीन गुणव्रत का भी पालन करता है। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकताओं को यथासम्भव सीमित कर लेता है। उतने में ही चलाता है, जितने के बिना उसका नहीं चल सकता। वह अपने जीवनकाल के लिए अरन व्यापारादि को सीमित करने के लिए दशा दिशाओं में आवागमन का बन्धन कर लेता है और जीवन भर उसके बाहिर नहीं जाता, यह दिग्व्रत है।

देशव्रत का लक्षण

ताहू में फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमान ठान, अन सकल निवारा॥
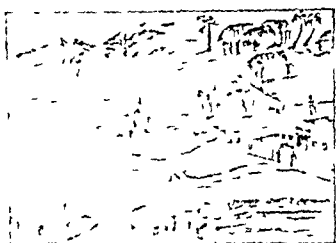
अन—अन्य, **निवारा**—छोड़ा, त्यागा। **ताहू**—दिग्व्रत में।

अर्थ—जन्म-पर्यन्त उन दश दिशाओं की मर्यादा के अन्तर्गत अमुक ग्राम, गली, घर, बाग, बाजार आदि की मर्यादा कुछ काल के लिये करना व अन्य सब स्थानों में आने जाने व्यापार आदि करने का त्याग करना, यह देशव्रत नामक गुणव्रत है।

भावार्थ—श्रावक देशव्रत भी धारण करता है अर्थात् दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर पुन दिशाओं की मर्यादा में समय की मर्यादा और बांध देते हैं। दिशाओं की बड़ी मर्यादा के भीतर दिन, सप्ताह, माह आदि समय की मर्यादा तथा अमुक गली, बाजार आदि स्थानों की मर्यादा बांध लेता है और उतने काल तक उससे कभी बाहर नहीं जाता। यह देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत है।

अनर्थदण्ड त्याग का लक्षण

काहु की धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै ।
देय न सो उपदेश, होय अघ वनिज कृपीतै ॥ ११ ॥

जय-हार—जीत और पराजय, वनिज—वाणिज्य, व्यापार उद्योग। कृपीतैं—खेती स।

अर्थ—किसी के धन का नाश हो, किसी की जीत हो, किसी की हार हो, ऐसा विचार करना, पहला अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है—उसे न करना। ऐसे व्यापार-उद्योग या खेती करने का दूसरों को उपदेश देना, जिससे पाप-बंध बंधता हो, वह पापोपदेश नामक दूसरा अनर्थदण्ड है—उसे न करना।

भावार्थ—अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का होता है। अपध्याय मे भावो से ही पाप का वन्ध हो जाता है। किसी का भला-बुरा विचारना ही प्रथम अपध्याय—अनर्थदण्ड है। दूसरो को पापवर्द्धक हिसाकारक ऐसे काम का उपदेश देना, जिसमे पाप अधिक लगता है, पापोपदेश नामक दूसरा अनर्थदण्ड है। इसमे विचारो स नही, उसके उच्चारण से पाप लगता है। इस प्रकार श्रावक को बुरे या हिसात्मक भाव हृदय मे न लाने चाहिए, न उनका उपदश करना चाहिए।

प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति अनर्थदण्डों के लक्षण और उनके त्याग का उपदेश।

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै।
असि धनु हल हिंसोपकरन, नहिं दे यश लाधै ॥
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहू न सुनीजै।
औरहु अनरथदण्ड-हेतु अघ तिन्हें न कीजै ॥ १२ ॥
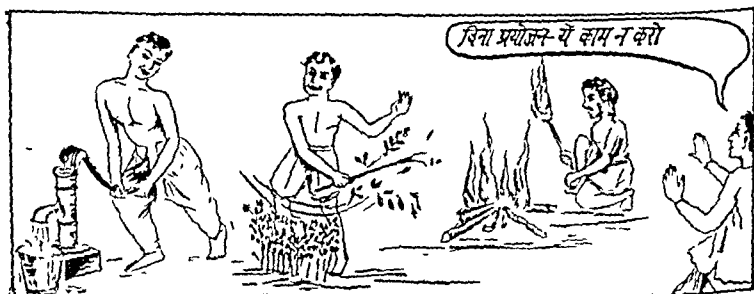
प्रमाद—आलस्य, विराधै—नाश करे, असि—तलवार, धनु—धनुष। हिंसोपकरन—हिंसा के सामान, लाधै—प्राप्त कर, न सुनीजै—सुनना या सुनाना नहीं चाहिए।

अर्थ—कौतूहल या आलस्य के कारण व्यर्थ में जल, भूमि, वृक्ष और आग को नष्ट करना, यह प्रमादचर्या नामक तीसरा अनर्थदण्ड है, उसे न करना। तलवार, धनुष, हल या हिंसा के साधक सामान दूसरों को देकर यश प्राप्त करना, सो चौथा हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है, उसे न करना।

राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली कथा-कहानी सुनना या कहना, सो दुःश्रुति नामक पाचवाँ अनर्थदण्ड है, उसे न करना। इसके सिवाय और भी अनर्थ कार्य जिनसे पाप-बन्ध हो, कभी नहीं करना चाहिये। (इस प्रकार तीन गुण-व्रतों के लक्षण वर्णित हुए।)

भावार्थ—इसके अतिरिक्त अन्य अनर्थदण्ड भी हैं। अनावश्यक पदार्थों का अपव्यय करना, जैसे—व्यर्थ में पानी ढोलना, वृक्ष नष्ट करना, आग जलाना आदि प्रमादचर्या है। हिंसा का कारण बनना, हिंसात्मक अस्त्र-शस्त्रों को लेना-देना दोनों ही हिंसा-दान अनर्थदण्ड हैं। राग-द्वेष भरी बातें सुनना-सुनाना दुश्रुति नामक अनर्थदण्ड है। गान्धीजी के तीन वानर जो अपना मुख, आँख और कान बन्द कर यह बताते हैं कि मनुष्य को न बुरी बातें सुनना चाहिए, न बोलना और न देखना—ये श्रावक के लिये अनुकरणीय हैं। श्रावक को प्रमादचर्या, हिंसा-दान और दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डों से भी दूर रहना चाहिए। इन पाँच अनर्थदण्ड

अनर्थदण्ड-व्रत है।

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण व्रत और अतिथि संविभाग शिक्षा व्रत

धर उर समता-भाव, सदा सामायिक करिये ।
पर्व-चतुष्टय माहिं, पाप तजि प्रोषध धरिये ॥
भोग और उपभोग, नियम करि ममतु निवारै ।
मुनि का भोजन देय, फेर निज करहि अहारै ॥ १३

सामायिक

प्रोषधोपवास

भोगोपभोग परिमाण
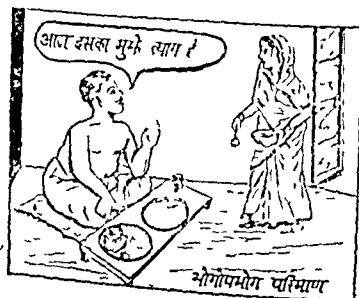
उर—हृदय, परब चतुष्टय माहिं—एक माह मे चार पर्व या पवित्र दिन (दो अष्टमी और दो चौदश) हैं। प्रोषध—उपवास, ममत—ममत्व या मोह। भोग—जो एक बार भोगने में आवे, जैसे भोजन, फूल आदि। उपभोग—जो बार-बार भोगने मे आवे, जैसे वस्त्र, पलग आदि। सामायिक—आत्म-चिन्तन।

अर्थ—हृदय में समता-भाव (न किसी से राग, न द्वेष, ऐसे भाव) रख कर प्रतिदिन ध्यान करना, यह 'सामायिक' नामक पहिला शिक्षा-व्रत है।

एक माह में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के दिनों में सब पाप-कार्यों को त्याग कर उपवासादि रखना, यह 'प्रोषधोपवास' नामक दूसरा शिक्षा-व्रत है।

प्रतिदिन भोग और उपभोग की वस्तुओं का नियम लेना, जिससे उन वस्तुओं से ममता कम हो, सो 'भोगोपभोग-परिमाण' नामक तीसरा शिक्षा-व्रत है।

मुनि को अथवा व्रती श्रावक या सामान्य श्रावक को आहार-दान देकर फिर आप भोजन करना, सो चौथा 'अतिथि-संविभाग' नामक शिक्षा-व्रत है। (चारों शिक्षा-व्रतों का स्वरूप समाप्त हुआ।)

भावार्थ—एकदेश-चारित्र के भेद अर्थात् श्रावक के ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत के अतिरिक्त ४ शिक्षाव्रत भी होते हैं। वे हैं—(१) राग-द्वेष से रहित एकाग्रचित्त हो सामायिक करना या आत्मा का चिन्तन करना। (२) अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास रख सांसारिक कर्मों से दूर रहना। (३) प्रतिदिन प्रात ही अपने भोगोपभोग की सामग्री की सीमा निर्धारित करना। (४) मुनि को आहार-दान देने के पश्चात स्वयं भोजन करना। श्रावक इन व्रतों का भी पालन करता है। इस प्रकार वह अपने आंशिक चारित्र को दृढ़तापूर्वक सम्यक्चारित्र बनाये रखता है और संसारी रहते हुए भी मोक्ष-मार्ग पर चलता है।

अतिचार से सावधान और व्रत-पालन का फल

वारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै।
मरण समय सन्यास धारि, तसु दोष नसावै॥
यो श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहँतै चय नर-जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै॥ १४॥

समाधि मरण

अतीचार—दोष, पन-पन—पाँच-पाँच, चय—निकल कर या मर कर, सन्यास—समाधि-मरण।

अर्थ—श्रावक के १२ व्रतों का उल्लेख हो चुका है, उनमें से प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार या दोष हैं। वह उनसे सावधान रहे और व्रतों में दोष न आने दे। अन्त समय समाधि-मरण धारण कर उसके भी दोषों (अतिचारों) को मिटाता जावे। इस प्रकार जो

श्रावक के १२ व्रतों को पालन करता है और अन्त समय में सन्यास धारण करता है, वह सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। वहाँ से निकल कर मनुष्य-भव पाता है और फिर मुनि-व्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—श्रावक के १२ व्रत है व इनमे से प्रत्येक के ५-५ दोष है, इस प्रकार कुल ६० दोष है। पर जो श्रावक दृढ़तापूर्वक इन व्रतो का पालन करता है और इन दोषो से दूर रहता है तथा अन्त समय समाधिपूर्वक मरण करता है, उसके दोषो का क्षय होता जाता है, वह मर कर सोलहवे स्वर्ग मे देव होता है और उसके बाद पुन मनुष्य शरीर धारण कर मुनि व्रत पालन कर मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार गृहस्थ ससारी रहते हुए भी श्रावक के व्रत का पालन कर मोक्ष-मार्ग का द्वार खोल लेता है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त कर चिर आनन्द लाभ करता है।

चतुर्थ ढाल से सम्बन्धित कुछ ध्यान देने योग्य बातें

१ छन्द—चतुर्थ ढाल का छन्द 'रोला' है। इसमे ४ चरण होते है। प्रत्येक चरण मे २४ मात्राये होती है। विराम १४ और फिर १० मात्राओ पर होता है। अन्त मे अधिकतर लघु-दीर्घ-दीर्घ का क्रम रहता है।

२ **इस ढाल के भेद-सग्रह—**

काल	(३)	भूत, भविष्य और वर्तमान अथवा निश्चय-काल और व्यवहार-काल।
ज्ञान	(५)	मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय और केवल-ज्ञान।
दिशा	(१०)	पूव, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व, अध।
पर्व चतुष्टय	(४)	प्रत्येक मास की दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी।
मुनि	(२)	भाव-लिगी और द्रव्य-लिगी।
विकथा	(४)	स्त्री-कथा, आहार-कथा, देश-कथा और राज-कथा।
श्रावक व्रत	(१२)	पाँच अणु-व्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा-व्रत।

३. इस ढाल के युग्मो का अन्तर—

(i) दिग्व्रत—देश व्रत—जीवन पर्यन्त की दिशाओ को मर्यादा दिग्व्रत है किन्तु देश-व्रत की मर्यादा घड़ी, घण्टा आदि निर्धारित समय तक की है।

(ii) भोगोपभोग-परिमाण-व्रत— परिग्रह परिमाण-व्रत— } परिग्रह परिमाण-व्रत मे भोग-उपभोग वस्तुओ की मर्यादा ली जाती है उससे भी कम भोगोपभोग-परिमाण व्रत मे सीमा बांधी जाती है।

(iii) प्रोपध—उपवास—प्रोषध अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एकाशन के साथ २ जो पर्व मे उपवास अर्थात् चारो आहारो का त्याग होता है, उसे प्रोषधोपवास कहते है। केवल एकाशन को प्रोषध और केवल उपवास कहते है।

(iv) भोगोपभोग—भोग एक ही वार भोगने योग्य होता है, जैसे भोजन। उपभोग वार-वार भोगा जाता है, जैसे वस्त्र।

४. लाक्षणिक शब्द—

अणुव्रत, महाव्रत, अतिचार, अनर्थदण्ड, अवधिज्ञान, भोग, उपभोग, गुरु, गुणव्रत, प्रत्यक्ष, परोक्ष, पर्याय, मन-पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, विपर्यय, व्रत, सन्यास, सशय। (देखिये परिशिष्ट 'क' मे)

पांचवो ढाल

(चाल छन्द)

वारह-भावनाओं का चिन्तवन और फल

मुनि सकलव्रती वड़भागी, भवभोगनतै वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिंत्यौ अनुप्रेक्षा भाई ॥ १ ॥

सकलव्रती—पूरी तरह से महाव्रतधारी, **वडभागी**—पुण्यवान्, **भव-भोगन**—संसार के भोग-उपभोग, **उपावन**—उत्पादन, उत्पन्न करने को, **माई**—मा, **अनुप्रेक्षा**—वारह-भावनायें।

अर्थ—हे भाई ! मुनि पूरी तरह से पञ्च महाव्रत के धारी होते हैं, वे पुण्यवान हैं, संसार के भोग-उपभोग से विरक्त हैं। वारह भावनाओं का वे चिन्तवन करते हैं, ये भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करने के लिये माता के समान हैं।

भावार्थ—सम्यक्चारित्र का पालन श्रावक आंशिक रूप मे करते हैं, पर मुनि उसका पूर्णरूपेण पालन करते है। वे संसार के भौतिक आकर्षणो से दूर रहते हुए सदा आत्मानन्द मे लीन रहते है। वे वारह भावनाओ का चिन्तन करत है, जो वैराग्य उत्पन्न करने और उसको स्थिर रखने मे सहायक है।

भावनाओं का फल

इन चिन्तन समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जबही जिय आतम जानै, तबही जिय शिव-सुख ठानै ॥ २ ॥
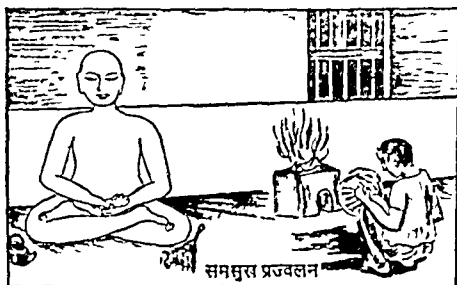
जागै—उदय होता है, प्रगट होता है, **जिमि**—जैसे, **ज्वलन**—अग्नि, **ठानै**—प्राप्त करता है।

अर्थ—इन बारह-भावनाओं के चिन्तवन करने से समता-रूपी सुख प्रगट होता है, जैसे कि वायु के लगने से अग्नि प्रज्वलित होती है। जब यह जीव आत्मा को जानता है, तबही वह मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ—इन बारह-भावनाओं का चिन्तवन करने से हृदय में समता-भाव जागृत होता है, समता-भाव जागृत होने पर जीव आत्मा को ठीक तरह से पहचानता है। आत्मज्ञान होने पर जीव उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में चिर आनन्द का अधिकारी होता है। इस प्रकार ये बारह-भावनायें मोक्ष की ओर अग्रसर करनेवाली हैं।

१—अनित्य-भावना का लक्षण

जोवन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी ।
इन्द्रीय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥ ३ ॥

हय—घोडा, **गय**—हाथी, **छिन**—क्षण, **थाई**—स्थायी, **सुरधनु**—इन्द्र-धनुष, **चपला**—विजली, **चपलाई**—चञ्चलता ।

अर्थ—यौवन, घर, गाय-बैल, द्रव्य, स्त्री, घोडा, हाथी, आज्ञा के अनुकूल चलनेवाले नौकर तथा इन्द्रियों के भोग—ये सब क्षणिक है, स्थायी नही है । इन्द्र-धनुष या विजली के अस्तित्व-सा चञ्चल इनका अस्तित्व है । कोई भी पदार्थ नित्य नही है । यह पहिली अनित्य-भावना है ।

भावार्थ—बारह-भावनाओ मे पहली अनित्य-भावना है । सांसारिक सभी उपकरण जिनसे मनुष्य अपने को सुखी समझते हैं—नश्वर है, क्षणिक सुख देनेवाले है । मुनि यह समझ कर इनसे अपने को दूर रख चिर आनन्द को प्राप्ति के लिये प्रयास करते है । ससार को नश्वरता का वास्तविक ज्ञान ही अनित्य-भावना है ।

२—अशरण-भावना का लक्षण

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यो हरि, काल दले ते ।
मणि मन्त्र तन्त्र वहु होई, मरते न वचावे कोई ॥ ४ ॥

असुर—राक्षस, खगाधिप—विद्याधरो के ईश या चक्रवर्ती, हरि—सिह, दले—नष्ट कर देता है ।

अर्थ—देव, राक्षस, चक्रवर्ती जितने भी है, वे सब मृत्यु से नाश को प्राप्त होते हैं, जैसे हरिण सिंह द्वारा नष्ट होता है । रत्न, मन्त्र, तन्त्र आदि (कितने ही उपाय क्यों न किये जावे, किन्तु) कोई भी किसी को मरण से नहीं बचा सकता है । यह दूसरी अशरण-भावना है ।

भावार्थ—दूसरी अशरण-भावना है । प्रत्येक प्राणी काल-कवलित होगा । मृत्यु के विरुद्ध प्राणी को शरण देनेवाला कोई नही है । इस प्रकार ससार के सभी प्राणी अशरण हैं । काल के हाथ मे वे उसी तरह असहाय हैं, जिस प्रकार सिह के मुख मे हिरण । संसार की कोई भी शक्ति मणि, मन्त्र, औषधि आदि कोई भी प्राणी को अभय-दान नही दे सकती ।

३—संसार-भावना का लक्षण

चहुँगति दुःख जीव भरे है, परिवर्तन पञ्च करे हैं।
सब विधि ससार असारा, यामे सुख नाहि लगारा ॥ ५ ॥

पञ्च परिवर्तन—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। **विधि**—प्रकार, **लगारा**—थोडा भी, **भरे हैं**—सहते है।

अर्थ—जीव चारों गतियों में दुःख सहन करते हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ऐसे पाँच परिवर्तन किया करते हैं। सब प्रकार से संसार असार है, इसमें किञ्चित् भी सुख नहीं है। यह तीसरी संसार-भावना है।

भावार्थ—तीसरी ससार-भावना है। ससार मे दुःख ही दुःख है, चारो गतियो मे से किसी गति मे भी जीव सुखी नही रह पाता। मनुष्य-गति मे चिर अतृप्ति की भावना उसे दुःखी बनाती है, तो देव-गति मे पारस्परिक ईर्ष्या। तिर्यञ्च-गति मे कभी उसे भारवहन करना पड़ता है और कभी वह असहाय रहता है। नरक-गति—उसमे तो कष्ट ही कष्ट है। जीव पञ्च परिवर्तन कर के भी कही सुख नही पाता। मुनि ऐसा जान कर, समझ कर इस ससार से विरक्त रहने का उपदेश अपने को तथा अन्य जीवो को दिया करते है।

४—एकत्व-भावना का लक्षण

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एकहिं तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥ ६ ॥

एकहिं—अकेला ही, तेते—उतने, दारा—स्त्री, सीरी—साझी, साथी भीरी—भीड करनेवाले सगे, सम्बन्धी।

अर्थ—इस जीव के जितने भी अच्छे या बुरे कर्म-फल है, उनको यह जीव अकेला ही भोगता है। पुत्र, स्त्री आदि कोई भी दुःख-सुख के साथी नही है। ये सब अपने मतलब के लिये भीड लगा कर इस जीव को घेरे हैं। यह चौथी एकत्व-भावना है।

भावार्थ—चौथी एकत्व-भावना है अर्थात् जीव सदा एकाकी है। अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल उसे अकेले ही भोगना पडता है। उसके अत्यन्त निकट सम्बन्धी जैसे स्त्री, पुत्र अपने स्वार्थ के कारण ही उसे घेरे रहते हैं, उसके कर्मों के आस्रव का हिस्सेदार कोई नही है—यह समझ कर ही मुनि जीव को मोह-माया में न फंस सदा आत्म-कल्याण का उपदेश देते हैं।

५—अन्यत्व भावना का लक्षण

जल-पय ज्यो जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यो ह्वै इक मिल सुत रामा ॥ ७ ॥

अन्यत्व भावना

जल-पय—पानी और दूध, **जिय**—जीव या आत्मा, **मेला**—मिलाप, **भेला**—मिला हुआ, **ह्वै**—होंगे, **रामा**—स्त्री।

अर्थ—पानी और दूध की तरह, आत्मा और शरीर का मिलाप है, किन्तु वे दोनों अलग-अलग है, वे एक नहीं है। जब शरीर आत्मा से अलग है, तब धन-सम्पत्ति, मकान, पुत्र, स्त्री आदि कैसे अपने हो सकते है? (इस प्रकार अपने कहे जानेवाले ये पदार्थ यथार्थ मे अपने से भिन्न है।) यह पाँचवी अन्यत्व-भावना है।

भावार्थ—पाँचवी अन्यत्व-भावना है। आत्मा का अपना पृथक् अस्तित्व है। जिस प्रकार दूध और पानी मिल जाने पर एक दिखाई देते है, पर वास्तव मे वे भिन्न है। उनकी भिन्नता तब प्रकट होती है, जब दूध गर्म किया जाता है, उस समय पानी उड जाता है, पर दूध उडता नही, वह तो गाढ़ा हो जाता है। उसी प्रकार शरीर मे निवास करती आत्मा उससे अभिन्न प्रतीत होती है, पर मरणकाल मे उसकी भिन्नता स्पष्टतया हो जाती है। शरीर मर जाता है, मिट जाता है, पर अमर आत्मा दूसरा चोला धारण करती है। जब एक प्रतीत होनेवाले आत्मा-शरीर एक दूसरे से भिन्न है, तो फिर स्पष्ट रूप से भिन्न दिखाई देनेवाली सम्पत्ति, हवेलियाँ, स्त्री, पुत्र आदि का तो पूछना ही क्या?

८—संवर-भावना का लक्षण

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥ १० ॥
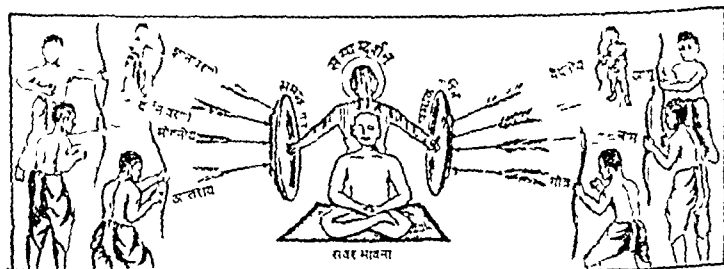
चित दीना—मन को लगाया, विधि—कर्म।

अर्थ—जिन जीवो ने अपने भावों को पुण्य और पाप-रूप न होने दिया, तथा आत्मा के चिन्तन में अपने मन को लगाया, उन्होंने ही आते हुए कर्मों को रोका और संवर की प्राप्ति कर सुख प्राप्त किया। इस प्रकार यह आठवीं संवर-भावना है।

भावार्थ—मन, वचन और काय को चञ्चलता को रोकने मे वही समर्थ होता है, जो अपने ध्यान को आत्म-विचार मे केन्द्रित करता है। इसी को संवर कहते हैं। मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान, मोहनीय आदि कर्मो के तीरो को रोकने मे सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान ढाल का कार्य करते हैं। कर्मों के संवर से दु:ख स्वत समाप्त हो जाता है, अत. कौन-सा कर्म पाप है, कौन-सा पुण्य—इसके विवाद मे न पड जीव को सभी कर्मो से ही दूर रह आत्म-विचार मे लीन रहना चाहिए, तभी संवृतात्मा को आनन्द की अनुभूति होती है।

६—निर्जरा-भावना

निज काल पाय विधि झरना, तासौ निजकाज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावे, सोई शिवसुख दरसावे॥ ११॥

सरना—पूरा होना, खपावै—दूर करता है अर्थात् निर्जरा करता है। झरना—झडना, दरशावै—प्राप्त कराता है।

अर्थ—अपना समय पूरा कर जो कर्म झड जाते है, उससे अपना कोई हित पूरा नहीं होता है। किन्तु तप कर के जो कर्मों को उनकी स्थिति पूरी होने के पहिले ही नष्ट करता है, वही क्रिया मोक्ष-सुख को प्राप्त कराती है। यह नवमी निर्जरा-भावना है।

भावार्थ—नवमी निर्जरा-भावना है। प्रत्येक कर्म, प्राणी के उसका फल भोगने पर समाप्त हो जाते है—यह भी निर्जरा है। पर यह निर्जरा उस निर्जरा से भिन्न है, जो मोक्ष ले जातो है। फल भोगने पर जिन कर्मों की निर्जरा होती है, उनके वाद तो पुन' कर्म-बन्ध हो सकता है, किन्तु तप कर के कर्मों को उनकी स्थिति पूर्ण होने के पहले ही नष्ट कर देते हैं, वही निर्जरा-भावना मोक्ष-सुख देनेवाली है। अत मुनि महाराज कर्म-रूपी विषैले सर्पों को डसने के पूर्व ही अपने तप के प्रभाव से दूर कर देते हैं।

१२—धर्म-भावना का लक्षण

जे भाव मोहतै न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तबही सुख अचल निहारै ॥ १४ ॥
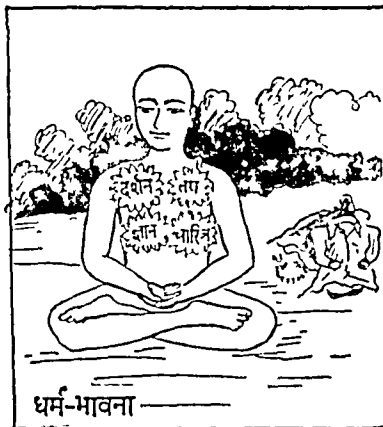
धर्म-भावना ———

दृग—सम्यक्दर्शन, अचल—स्थिर, शाश्वत।

अर्थ—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप आदिक जितने भाव हैं, वे सब मोह-भाव से भिन्न हैं (क्योंकि ये भाव धर्म रूप हैं) इस धर्म को जब यह जीव धारण करता है, तबही वह शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। यह बारहवी धर्म-भावना है।

भावार्थ—बारहवी या अन्तिम भावना धर्म-भावना है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही धर्म-भाव है, ये मोक्ष और शाश्वत आनन्द देनेवाले हैं। ये भावना मोह से भिन्न है, जो जीव को ससार मे भटकाता है और उसे क्षणिक-सुख की आड मे दीर्घ-दुःख देता है।

मुनि-धर्म सुनाने का कारण

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उघरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥ १५ ॥

करतूति—क्रियायें, उचरिये—कहते हैं, अनुभूति—अनुभव।

अर्थ—ऐसा जो धर्म है, वह (सम्पूर्ण रूप से) मुनियों के द्वारा धारण किया जाता है, (अगले प्रकरण में) मुनियों की क्रियाओं का वर्णन है। हे भव्य प्राणी! तुम उसे सुनो और अपने अनुभव की पहिचान करो।

भावार्थ—पूर्णरूप से धर्म का पालन मुनि ही करते हैं, अत भव्य-प्राणी को उनकी इन वारह-भावनाओं से भिज्ञ होने के साथ ही मुनि-चर्या का भी ज्ञान होना चाहिए।

* पाँचवीं ढाल से सम्बन्धित कुछ ध्यान देने योग्य बातें *

१ छन्द—पचम ढाल का 'छन्द चाल' 'सखी-छन्द' भी कहते हैं। इसमे चार चरण होते है। प्रत्येक चरण मे १४ मात्राये होती हैं। विराम प्रत्येक चरण मे होता है। चरण के अन्त मे दीर्घ-दीर्घ का क्रम है, कहीं-कहीं ह्र-स्व-ह्र-स्व-दीर्घ भी होता है।

२ इस ढाल के भेद-संग्रह—

भावना	(१२)	अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, वोधि-दुर्लभ, निर्जरा, लोक और धर्म।
निर्जरा	(४)	अकाम, सविपाक, सकाम, अविपाक।
परिवर्तन	(५)	द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।
मल-द्वार	(६)	दो कान, दो नयन, दो नासिका-छिद्र, एक मुख, दो मल-मूत्र द्वार।
वैराग्य	(३)	संसार, शरीर और भोग—इन तीनो से अनासक्ति या उदासीनता।
कुधातु	(७)	रक्त, मास, वीर्य, हड्डी, चरवी, पीव और मज्जा।

३. इस ढाल के युग्मों का अन्तर—

(i) **भावना—अनुप्रेक्षा**—ये दोनो पर्य्यायवाची शब्द हैं, इनमे कोई अन्तर नही है।

(ii) **धर्म—धर्म-भावना**—अपनी आत्मा के गुणो मे स्थिर होना धर्म है, और धर्म-भावना मे बारम्बार विचार करने की मुख्यता है।

(iii) **सकल-व्रत—अणु-व्रत**—सकल-व्रत मे पापो का सर्वाङ्ग-रूप से त्याग किया जाता है और अणु-व्रत मे पापो का अंश-रूप से त्याग किया जाता है।

४. लाक्षणिक शब्द—

इस ढाल मे आये हुए कुछ शब्दो का लक्षण समझिये। अनुप्रेक्षा-भावना, अशुभ-उपयोग, शुभ-उपयोग, पाप, पुण्य, ग्रैवेयक, बोधि, योग (देखिये परिशिष्ट 'क' मे)

छठवीं ढाल

(हरि गीता छन्द)

महाव्रतों का लक्षण व भेद

षट्काय जीव न-हननतैं, सब विधि दरव-हिंसा टरी।
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू विना दीयो गहैं।
अठदश-सहस विधि शीलधर, चिद्ब्रह्म मे नित रमि रहैं॥ १॥

षट्काय जीव—छ काय के जोव, पृथ्वो, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। दरव-हिंसा—द्रव्य-हिंसा, शरीर का घात। निवारतैं—निवारण करने से, भावित—भाव-हिंसा, अवतरी—प्रगट हुई, मृषा—झूठ, मृण—मट्टी, अठदश सहस-विधि—अठारह हजार प्रकार के, शील—ब्रह्मचर्य, चिद्ब्रह्म—आत्मा।

अर्थ—मुनिराज छह काय के जीवों की हिंसा नहीं करते, सब प्रकार की द्रव्य-हिंसा से दूर रहते हैं राग-द्वेष आदि भावों के नहीं करने से वे भाव-हिंसा भी नहीं करते हैं, ये ही अहिंसा-महाव्रत है। वे लेश मात्र भी झूट नहीं बोलते हैं, ये सत्य-महाव्रत है तथा पानी और मिट्टी भी विना दिया हुआ नहीं लेते हैं, यह अचौर्य-महाव्रत है। वे शील या पूर्ण ब्रह्मचर्य के अठारह हजार भेदों को पालन कर सदा निजात्मा में रमण करते हैं। यह ब्रह्मचर्य-महाव्रत है।

भावार्थ—मुनि महाराज अहिंसा, सत्य- अचौर्य तथा ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतो का पूर्ण पालन करते है, राग-द्वेप से दूर रह वे न द्रव्य-हिंसा करते है, न भाव-हिंसा। सत्य-पथ के पथिक वे झूठ से सदा दूर रहते है। पूर्णरूपेण चोरी का त्याग रखते है, यहाँ तक कि विना दिए हुए जल और मिट्टी तक का प्रयोग नही करत तथा मन-वचन-काय से ब्रह्मचर्य तथा शील के समस्त भेदोपभेदो का पालन करते हुए निजात्मा मे लोन रहते है।
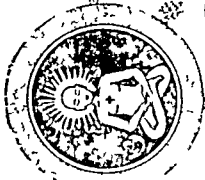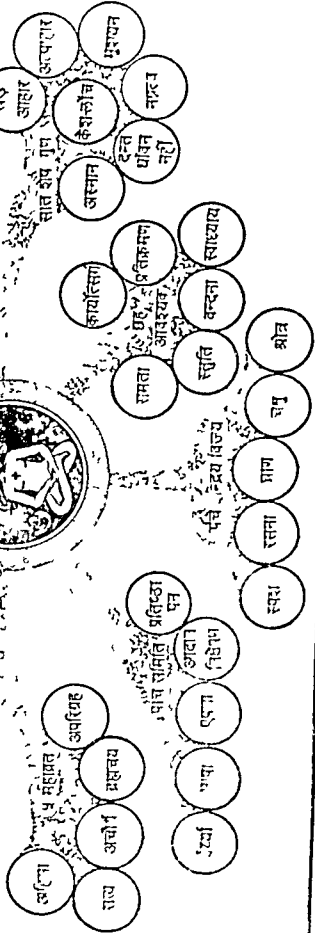
मुनि के २८ मूलगुण
५ महाव्रत
अपरिग्रह
अचौर्य
ब्रह्मचर्य
पांच समिति
प्रतिष्ठापन
आदान निक्षेपण
पंचेन्द्रिय विजय
रसना
श्रोत्र
छह आवश्यक
समता
कायोत्सर्ग
प्रतिक्रमण
स्तुति
वन्दना
स्वाध्याय
सात शेष गुण
खड़े आहार
अस्नान
केशलोंच
दन्त धावन नहीं
पृथिवी
द्रव्य हिंसा त्याग
अहिंसा
भाव हिंसा त्याग
त्रस
अप
तेज
वायु
वनस्पति
राग
द्वेष
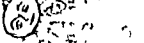
परिग्रह त्याग महाव्रत, ईर्या और भाषा-समिति

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, सङ्ग दशधा तै टलै।
परमाद तजि चउकर मही लखि, समिति ईर्यातै चलै॥
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति-सुखद सब संशय हरै।
भ्रम-रोग-हर जिनके वचन, मुख-चन्दतै अमृत झरै॥ २॥

भाषा-समिति

अन्तर चतुर्दश भेद—चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह, बाहर—बहिरङ्ग, संग — परिग्रह, दशधा — दश प्रकार के, टलैं—छोड़ते हैं, परमाद-प्रमाद या आलस्य, चउकर — चार हाथ, मही—पृथ्वी, सुहितकर—कल्याणकारी, श्रुति—सुनना।

ईर्य्या समिति

अर्थ—वे मुनि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और दश प्रकार के बहिरङ्ग परिग्रहों से दूर रहते हैं। वे मुनि आलस को त्याग जीव रक्षा के विचार से आगे की चार हाथ जमीन देख कर चलते हैं, यह पहली "ईर्या-समिति" है। जगत् के हितकारी सब बुराईयों को नष्ट करनेवाले, कानों को प्रिय, सन्देह दूर करनेवाले, मिथ्यात्व-रोग के नाश
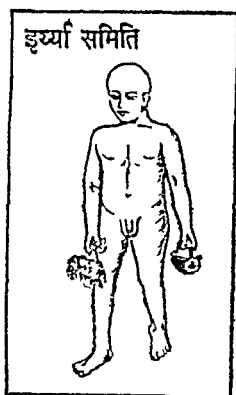
करनेवाले ऐसे वचन बोलते हैं कि उनके वचन ऐसे लगते हैं मानो मुखरूपी चन्द्र से अमृत ही झर रहा हो। यह दूसरी "भाषा-समिति" है।

भावार्थ—इन चार महाव्रतो के अतिरिक्त पञ्चम या अन्तिम अपरिग्रह महाव्रत का भी पालन करते हैं और अन्तरङ्ग १४, बहिरङ्ग १०—ऐसे सम्पूर्ण परिग्रहो से दूर रहते हैं। इन ५ महाव्रतो के अतिरिक्त ५ समितियो का पालन करना भी मुनि-चर्या के अन्तर्गत है। चलते समय चार हाथ भूमि को आगे-आगे देख कर चलना ताकि राह के सूक्ष्म जीवो को भी दुःख न पहुँचे, यह ईर्या-समिति है। ऐसी भाषा का प्रयोग करना जो निःसन्देह दूसरो का हित करे, उसे प्रिय लगे, उसे दुःखो से छुटकारा दिलवाये, तत्त्वज्ञान का बोध करानेवाली भाषा-समिति है। इस प्रकार मुनि की चर्या जग की रक्षा, उसके हित और आनन्द के लिये है, साथ ही इससे जीव मात्र का कल्याण होता है। उनकी वाणी इतनी प्रिय और शान्तिदायक है, जैसे चन्द्रमा अमृत प्रदान कर रहा हो।

एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापना-समिति

छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावकतणे घर अशन को।
लै, तप बढावन हेतु, नहिं तन, पोषते तजि रसन को॥
शुचि ज्ञान संजम उपकरन, लखिकै गहै लखिकै धरै।
निर्जन्तु थान विलोक तन-मल मूत्र श्लेपम परिहरै॥ ३॥
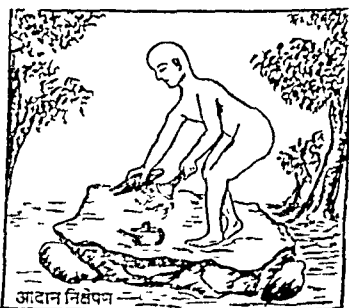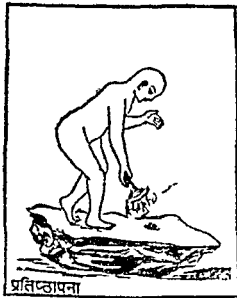
सुकुल—कुलीन, **अशन**—भोजन, **रसन**—छह रस, दूध, दही, घी, तेल, मीठा, नमक। **उपकरण**—पात्र, **शुचि**-पवित्र, **ज्ञान-उपकरण**—शास्त्र, **संजम-उपकरण** — पीछी, कमण्डल, **निर्जन्तु**—जीव-रहित, **थान**—स्थान, **श्लेषम**—नाक, थूक। **परिहरैं**—छोडते है।

अर्थ—मुनि तप-वृद्धि के अभिप्राय से छयालीस दोषों को टाल कर कुलीन श्रावक के घर आहार लेते है, शरीर को पुष्ट करने के लिये नहीं लेते है और छह रसों का भी (यथासाध्य) परित्याग करते है—यह तीसरी "एषणा-समिति" है। कमण्डल (शुचि-उपकरण), शास्त्र (ज्ञान-उपकरण) और पीछी (संयम-उपकरण) आदि को सम्भाल कर उठाते है और देख-भाल कर धरते है—यह चौथी "आदान-निक्षेपण-समिति" है। जीव रहित स्थान देख कर शरीर का मल, मूत्र, श्लेषम को छोडते हैं—यह पाँचवी "व्युत्सर्ग-समित" है।

भावार्थ—मुनि-एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापना-समिति का भी पूर्णरूपेण पालन करते है, वे शरीर सुख के लिये आहार ग्रहण नही करते वरन् सयम और तप-वृद्धि के लिये शास्त्रोक्त ४६ दोषो को बचाते हुए कुलीन श्रावक के घर रस-रहित आहार ग्रहण करते है। शुचि, ज्ञान और सयम के उपकरण—कमण्डल, शास्त्र और पीछी—का उपयोग जीव रक्षा की देख-भाल कर करते है, यह आदान-निक्षेपण-समिति है। शरीर के मल आदि का त्याग भी ऐसे स्थान मे करते है, जो जीव-रहित हो और जिससे किसी को बाधा न आवे, यह व्युत्सर्ग-समिति है। इस प्रकार मुनि अपने प्रत्येक कार्य मे पर-पीडा से दूर रहने का प्रयास करते है।

तीन गुप्तियां और पंचेन्द्रिय-विजय

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर-मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते॥
रस रूप गन्ध तथा फरस अरु, शब्द अशुभ-सुहावने।
तिनमे न राग विरोध पचेन्द्रिय-जयन पद पावने॥ ४॥

सम्यक्—अच्छा, भला। **निरोध**—रोक कर, **सुथिर-मुद्रा**—स्थिर रूप, **मृगगण**—हरिण के झुण्ड, **फरस**—स्पर्श, **उपल**—पत्थर।

अर्थ—मुनिराज मन, वचन और काय को अच्छी प्रकार से रोक कर अपनी आत्मा का ध्यान करते है, उस समय हरिणों के झुण्ड उनके ध्यानस्थ स्थिर-रूप को देख कर उन्हें पत्थर समझ कर उनकी देह से अपने शरीर की खाज खुजाया करते हैं। मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति—ये तीन गुप्तियां कहलाती हैं तथा मुनि पाँचो इन्द्रियों के विषयों में अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों मे चाहे प्रिय हो या अप्रिय हों, राग-द्वेष नही करते हैं। इसी को "पंचेन्द्रिय-जय" पद प्राप्त करना कहा जाता हैं।

भावार्थ—मन-वचन और काय को पूर्णरूपेण स्थिर कर मुनि आत्म-निधि मे लीन रहते हैं। उनकी स्थिर ध्यान-मुद्रा देख कर जङ्गल के हिरण भी उन्हे पाषाण प्रतिमा समझ अपने शरीर की खाज मिटाने लगते हैं। उस ध्यान की स्थिरता को क्रमश मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति कहते हैं। वे इन्द्रियो के विषयो के प्रति एकदम उदासीन रहते हैं, उनके लिये उनके हृदय मे कोई विकार पैदा नही होता, अत उन्हे 'पचेन्द्रिय-जयी' या 'जितेन्द्रिय' भी कहते हैं।

मुनियों के ६ आवश्यक और शेष ७ गुण

समता सम्हारै थुति उचारै, वन्दना जिनदेव को।
नित करै श्रुति-रति, करै प्रतिक्रम, तजै तन अहमेव को॥
जिनके न न्हौन न दन्त-धोवन, लेश अम्बर आवरन।
भूमाहि पिछली रयनि मे कछु, शयन एकासन करन॥ ५॥

समता—सामायिक, **थुति**—स्तुति, **श्रुति-रति**—शास्त्रो मे प्रीति या स्वाध्याय, **प्रतिक्रम**—किये दोषो पर पछताना और दण्ड लेना, **तन अहमेव**—शरीर को ही मै हूँ ऐसा मानना, **अम्बर**—कपडा, **आवरन**—ढकना या पहिनना, **रयनि**—रात्रि, **शयन**—नीद लेना, **एकासन**—एक करवट।

अर्थ—मुनि त्रिकाल सामायिक करते हैं, अर्थात् सब प्राणियों में समता-भाव रखते हैं। भगवान् की स्तुति करते हैं, जिनदेव की वन्दना करते हैं, सदा स्वाध्याय करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं, शरीर [illegible] न [illegible] क [illegible] (इस प्रकार छः [illegible] क नि [illegible] ड़ने के कारण

मुनि न नहाते हैं, न दाँत धोते हैं, किञ्चित् वस्त्र का भी आवरण नहीं रखते हैं, रात्रि के पिछले पहर मे जमीन में एक करवट से थोडी नींद लेते हैं।

भावार्थ—इनके अतिरिक्त मुनियो के छ आवश्यक गुण हैं—नित्य-नियमपूर्वक सामायिक करना, जिनदेव की स्तुति और वन्दना करना, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-वृद्धि करना, प्रतिक्रमण द्वारा अपने किये दोषा का सवर करना तथा कायोत्सर्ग करना। इनके अतिरिक्त मुनि न स्नान करते है, न दन्तवन और न हो वस्त्र धारण करत हैं। इनका ध्यान शरीर के शृङ्गार पर नही, आत्मा के शृङ्गार पर रहता है। ये रात्रि के अन्तिम प्रहर में जमोन पर एक करवट लेकर कुछ देर शयन कर लेते है।

मुनियों के और भी गुण

इक बार दिन मे ले अहार, खडे अलप निजपान मे।
कचलोच करत न डरत परिषह, सो लगे निज-ध्यान मे ॥
अरि मित्र महल समान कञ्चन, कांच निदन थुति करन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन, मे सदा समता धरन ॥ ६ ॥
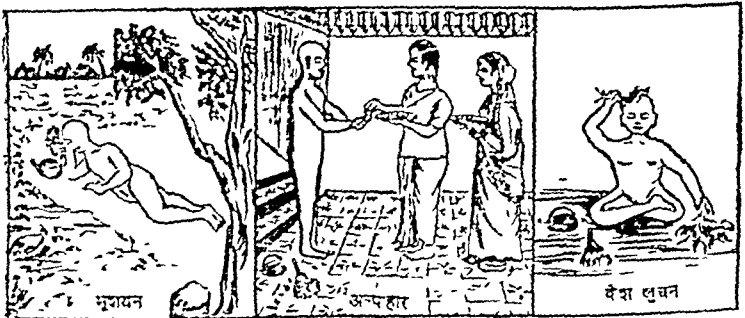
अलप—अल्प, थोडा। पान—पाणि, हाथ। कचलोंच—बालो को अपने हाथो से उखाड कर फेंक देना। परिषह—दु ख, अर्घावतारन—अर्घ उतारना, असि-प्रहारण—तलवार से प्रहार करना।

अर्थ—मुनि दिन में एक बार ही अपने हाथ मे लेकर खडे-खड़े थोड़ा आहार लेते हैं, वे अपने केशों का अपने हाथ से लोच करते हैं। वे परिषह (दुःख) से नहीं डरते हैं और अपनी आत्मा में लीन रहते हैं। (इस प्रकार के २८ मूल-गुण साधु पालते हैं, ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय-जय; ६ आवश्यक=२१ मूल-गुण फिर १ न नहाना, १ दाँत न धोना, १ जमीन पर सोना, १ नग्न रहना, १ एक बार भोजन करना, १ हाथों से खड़े आहार लेना, १ अपने बालों का लोच करना—२१+७=२८ मूल गुण हैं)। साधु के लिये शत्रु और मित्र, महल और मसान, कंचन और काच, निन्दा और स्तुति, पूजन करना या तलवार से मारना—ये सब समान है अर्थात् मुनि हरएक अवस्था में शान्त-चित्त रहा करते हैं।

भावार्थ—दिन मे मात्र एक बार ही आहार लेते है। आहार खडे-खडे ही लेते है, बैठ कर नही, वे अपरिग्रही अपने केशो को हाथ से उखाड लेत है। इस प्रकार २८ मूलगुणो का मुनि पालन करते है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त भौतिक पदार्थो से उदासीन रहने के कारण उनके लिये समस्त ऐश्वर्य तुच्छ है—कञ्चन और काँच समान है, शत्रु-मित्र मे कोई अन्तर नही, निन्दा स्तुति सम है, वे राग-द्वेष से ऊपर उठ जाते है अर्थात् वे सम-भाव धारण कर लेते है और आनेवाली समस्त आपत्तियो और कष्टो को साम्य परिणामो से सह लेते है।

मुनियों का तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरण चारित्र

तप तपै द्वादश धरै वृष दश, रतनत्रय सेवै सदा।
मुनि साथ मे वा एक विचरै, चहै नहिं भव-सुख कदा॥
यो है सकलसंयमचरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृति सब॥ ७॥

वृष—धर्म, **द्वादश**—बारह, **द्वादश-तप**—१२ तप (वे ये हैं—१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत परिसंख्यान, ४ रस-परित्याग, ५ विविक्ति-शय्यासन, ६ कायक्लेश, ७ प्रायश्चित, ८ विनय, ९ वैयावृत्य, १० स्वाध्याय, ११ कायोत्सर्ग और १२ ध्यान)। **दश-वृष**—दश धर्म (वे ये है—१ उत्तम-क्षमा, २ उत्तम-मार्दव, ३ उत्तम-आर्जव, ४ उत्तम-सत्य, ५ उत्तम-शौच, ६ उत्तम-सयम, ७ उत्तम-तप, ८ उत्तम-त्याग, ९ उत्तम-आकिंचन, १०. उत्तम-ब्रह्मचर्य)। **स्वरूपाचरन**—अपने स्वरूप मे आचरण करना अर्थात् आत्म-लीनता के कार्य। **विचरैं**—विहार करे या गमन करे, **प्रवृत्ति**—चलना।

अर्थ—मुनि १२ प्रकार के तप तपते हैं, दश प्रकार के धर्म को धारण करते हैं, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूपी तीन गुण रत्नों की रक्षा करते हैं, मुनियों के साथ या स्वयं एकाकी विचरण करते हैं और सासारिक सुखो की इच्छा भी नही करते हैं। इस प्रकार मुनि के सकल-चारित्र का वर्णन हुआ। अब स्वरूपाचरण या निश्चय-चारित्र को कहते हैं, जिससे अपनी आत्मा की ज्ञानादि सम्पत्ति प्रकट होती है और पर-पदार्थों की ओर का झुकाव सब प्रकार से मिटता है।

भावार्थ—मुनि सकल-चारित्री बारह प्रकार के तप तपते हैं, दशलक्षण धर्मों का पालन करते हैं, रतनत्रय मे लीन रहते हैं। सदा विहार करते रहते हैं, चाहे अकेले हो या अन्य मुनियो के साथ। ससार का सुख-वैभव उनके लिये व्यर्थ है। इस प्रकार वीतरागी रह कर वे धर्म और तपश्चर्या मे लीन रहते है—यही सकल-चारित्र है। निश्चय-चारित्र तो आत्म-दर्शन है, जिसमे मुनि आत्मानन्द मे लीन हो जाते है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर वे पर-पदार्थो से, इस भौतिक जगत् से अपना सबध विच्छेद करते जाते हैं। यह उनकी स्वरूपलीनता ही स्वरूपाचरण चारित्र कहलाती है।

स्वरूपाचरण चारित्र

जिन परमपैनी सुबुधि-छैनी, डारि अन्तर भेदिया ।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज-भाव को न्यारा किया ॥
निजमाहिं निज के हेतु निजकर, आपको आपै गह्यौ ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ ॥ ८ ॥

स्वरूपाचरण-चारित्र

सुबुधि—भेद-विज्ञान, छैनी—तोडनेवाला औजार, भेदिया—भेद कर दिया, तोड दिया। गुणी—गुणवाला, ज्ञाता—जाननेवाला या आत्मा। ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ, ज्ञान का विषय। मझार—भीतर।

अर्थ—जिन ने अति सूक्ष्म धारवाली भेद-विज्ञान-रूपी छैनी से शरीर से अन्तरङ्ग को अलग कर लिया है और इस प्रकार शरीर के वर्ण आदि गुणों से उन्होंने राग-द्वेष-क्रोधादि कषाय-भावों से आत्मिक-भावों को अलग कर दिया है, फिर वे अपनी आत्मा में, अपने आत्महित के लिये, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा को आप ही ग्रहण करते हैं, तब गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय इन सब में कुछ भेद नही रह जाता अर्थात् आत्म-ज्ञान या ध्यान में सब विकल्प मिट जाते हैं।

भावार्थ—स्वरूपाचरण मे मुनि आत्मानन्द मे लीन हो जाता है। वह शरीर गुण तथा आत्मा के विकार राग-द्वेष आदि भावो से अपने वास्तविक स्वरूप को भेद-विज्ञान द्वारा भिन्न पाता है। वह आत्म-कल्याण के लिये अपने-आप मे, अपने प्रयत्न द्वारा अपने वास्वविक स्वरूप को स्वय देखता है, इससे उसके सारे विकल्प, भ्रम, भेद दूर हो जाते है, उसकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और उसे सब कुछ (ध्यान मे) आत्मामय प्रतीत होता है, यहां तक कि आत्मा मे भी गुण-गुणी का ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नही रह जाता।

स्वरूपाचरण-चारित्र का महत्त्व और अर्हन्त अवस्था

यो चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाही कह्यो॥
तवही शुकलध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि-कानन दह्यो।
सब लख्यो केवलज्ञान करि, भविलोक को शिवमग कह्यो॥११॥
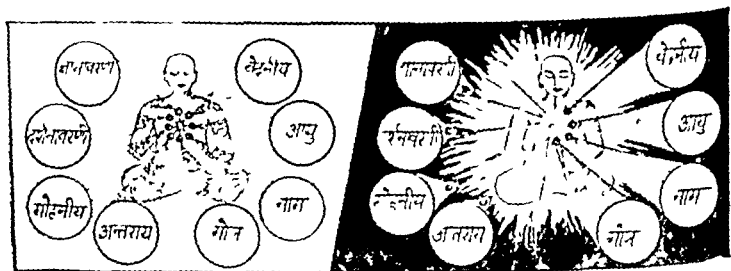
कानन—वन, जगल। अकथ—जिसका वर्णन नही किया जा सकता।

अर्थ—इस प्रकार विचार कर जब मुनि आत्म-ध्यान में स्थिर हो जाते हैं, तब उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह वर्णनातीत है। वैसा सुख इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती या अहमिन्द्र तक को नहीं मिलता है। ऐसे ध्यान से उस समय मुनिराज शुक्ल-ध्यान-रूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया-कर्म-रूपी वन को जला डालते हैं (अर्थात् चार घातिया-कर्मों का नाश करते हैं) और उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, जिस ज्ञान के द्वारा वे तीनों काल की बातों को (सम्पूर्ण और स्पष्ट) देखते हैं और भव्य-जीवों को मोक्ष-मार्ग का उपदेश करते हैं। यही उनकी अर्हन्त अवस्था कहलाती है।

भावार्थ—इस प्रकार आत्मनिधि मे पूर्णतया लीन हो जाने पर मुनि को जिस अकथनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, वह देव, नागेन्द्र तथा इन्द्र के लिये भी दुर्लभ है। इस पूर्ण आत्मलीनता से जब चारो घातिया-कर्म (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय) नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा केवलज्ञान के प्रकाश से उद्भासित हो उठती है, जिसमे मुनि को सब ज्ञेय समता गुण और समस्त पर्यायो सहित प्रत्यक्ष होने लगते हैं, वह विश्व को मोक्ष-मार्ग प्रदर्शन करने का अधिकारी बन जाता है, यही जीव की अरहन्त अवस्था है।

सिद्ध अवस्था

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहिं अष्टम-भू वसै।
वसुकर्म विनसै सुगुन वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसै॥
संसार खार अपार पारावार, तिरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुध, चिद्रूप अविनाशी भये॥१२॥

शेष—बचे हुए, अष्टम-भू—मोक्ष, वसु—आठ, पारावार—समुद्र, अविकार—दोष-रहित, अकल—शरीर-रहित।

अर्थ—इसके बाद वे आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय—इन चार अघातिया-कर्मों का भी नाश कर क्षण भर मे मोक्ष चले जाते है। आठ कर्मों का नाश होने पर उनमे सम्यक्त्व आदि आठ गुण शोभित हो जाते है। वे संसार-रूपी खारे समुद्र से तिर कर किनारे पर लग जाते है और निर्विकार, शरीर-रहित, शुद्ध चैतन्यमय अविनाशी सिद्ध हो जाते है।

भावार्थ—चार घातिया-कर्मों का नाश कर अरहन्त मोक्ष-मार्ग प्रदर्शक बन जाता है और जब चार अघातिया-कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) का भी नाश कर देता है, तब वह मोक्ष पाने का अधिकारी बन जाता है। आठ भाव-कर्मों का स्थान आठ गुण ले लेते हैं। मोह के नाश से सम्यक्त्व, ज्ञानावरणी के नाश से ज्ञान, दर्शनावरणी के अभाव से दर्शन, अन्तराय के घात से शक्ति, आयु के नाश से अवगाहना, नाम के अभाव से सूक्ष्मत्व, गोत्र के नाश से अव्याबाध गुण प्रकट हो जाते हैं। संसार-समुद्र के खारे जल को निर्विकार, अशरीरी, अमूर्त, शुद्ध चैतन्यरूप मे पार कर उस पार पहुँचे सिद्ध भगवान का चिर निवास हो जाता है, इसी को सिद्धावस्था कहते हैं।

मोक्ष-पर्याय का वर्णन

निजमांहि लोक अलोक गुण, परजाय प्रतिविम्बित थये।
रहिहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परणये॥
धनि धन्य है जे जीव, नर-भव पाय, यह कारज किया।
तिनहो अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार, तजि वर सुख लिया॥ १३॥

परजाय — पर्याय, **थये** — होते है। **परिणये** —परिणय किया है, प्राप्त किया है। **वर**—श्रेष्ठ, **भ्रमण पञ्च प्रकार**—पञ्च परावर्तन या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

अर्थ—सिद्ध भगवान की आत्मा में लोक और अलोक अपने गुण और पर्याय सहित प्रतिविम्बित होते रहते है। उनने जिस प्रकार (सर्व सुखकारी) मोक्ष पाया है, उसी प्रकार वे अनन्तकाल तक यहा रहेंगे। वे जीव धन्य हैं, जिनने मनुष्य-भव पाकर मोक्ष-प्राप्ति का कार्य किया है। ऐसे ही जीवो ने अनादिकाल से चले आये पञ्च परावर्तन-रूप संसार को त्याग कर उत्तम सुख की प्राप्ति की है।

भावार्थ—सिद्धावस्था मे आत्मा दर्पण-सी स्वच्छ और निर्मल हो जाती है, जिसमे सभी पदार्थों के गुण और परिणमन अपने वास्तविक रूप मे प्रतिविम्बित होते हैं। वे इसी प्रकार अनन्त काल तक शिव-सुख का भोग करते रहेंगे। वे मनुष्य धन्य हैं, जिन्होने संसार के आवागमन से परे मुक्ति जैसे उत्कृष्टतम सुख का वरण किया और अपनी अनादि कालीन भव-भ्रान्ति को सदा के लिए दूर कर दिया

रत्नत्रय का फल और निजहित उपदेश

मुख्योपचार दुभेद यो, बड़भागि रत्नत्रय धरै।
अरु धरैंगे ते शिव लहै तिन, सुयस-जल जग-मल हरै॥
इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरो।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौ जगत निजहित करो॥ १४॥

मुख्य—निश्चय, उपचार—व्यवहार, बड़भागि—भाग्यवान, जरा—बुढ़ापा, निजहित—आत्म-कल्याण।

अर्थ—सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो दो भेद (व्यवहार और निश्चय) कहे गये हैं, उनको भाग्यशाली जीव धारण करते हैं और धारण करते रहेंगे तो वे (अवश्य) मोक्ष प्राप्त करेंगे तथा उनका सुयश-रूपी जल संसार के मैल को हरेगा। ऐसा जान कर आलस को छोड़ो और साहस बांध कर यह उपदेश ग्रहण करो कि जबतक रोग या बुढ़ापा इस शरीर को नही पकडता है, तबतक हम जल्दी आत्महित करने मे लग जावे।

भावार्थ—इस प्रकार निश्चय और व्यवहार इन दोनो प्रकार के रत्नत्रय को जो भाग्यवान धारण करते है और भविष्य मे धारण करेगे, वे मोक्ष-पद प्राप्त कर स्वयं चिर-कीर्ति के अधिकारी होगे, उनका कीर्त्तन दूसरो का पथ-प्रदर्शक बनेगा। इस मर्म को हृदय मे समझ कर आलस्य छोड साहस से आत्महित मे लगना चाहिए और बीमारी तथा बुढ़ापा आने के पूर्व ही आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाना चाहिए, क्योकि यही जीव का वास्तविक लक्ष्य है।

अन्तिम शिक्षा

यह राग आग दहै सदा, तातै समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो, त्याग निजपद वेइये॥
कहा रच्यो पर पद मे, न तेरो पद यहै, क्यो दुःख सहै।
अब दौल! होउ सुखी स्व-पद रचि, दाव मत चूकौ यहै॥ १५॥
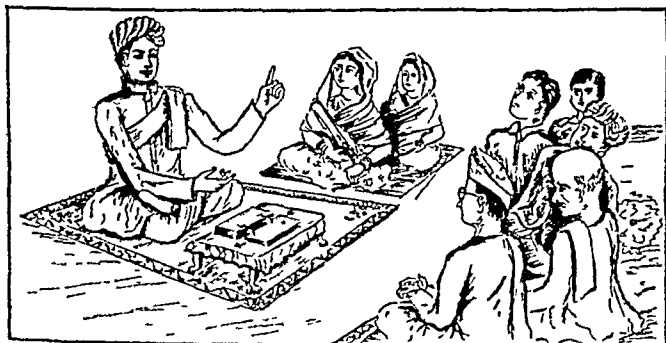
समामृत—समता-रूपी अमृत, चिर—सदा से, भजे—सेवन किया, वेइये—अनुभव करो, रच्यो—राग करता है, पद—अवस्था, दाव—अवसर।

अर्थ—संसार में जीवों को राग-रूपी आग सदा से जला रही है, इससे समता-रूपी अमृत का सेवन करना चाहिये। हे भव्य! तूने सदा विषय-वासनाओं और कषायों का सेवन किया है (और दुःख उठाया है), अब उनको त्याग और आत्म-कल्याण को कर। पर-पदार्थ की अवस्था में रागी बनने में क्या सार है? यह तेरी निज अवस्था नही है, फिर क्यों पर के पीछे पड़ कर तू दुःख ... तराम! अब तू अपने पद ... इस दुर्लभ अवसर

भावार्थ—कवि ग्रन्थ के अन्त मे यह शिक्षा देते हैं कि हे भाइयो। अनादि काल से राग-द्वेष के वश होकर पचेन्द्रियो के विषय तुमने सेवन किए है। इसके लिए सबसे लडाई, झगडा, अभिमान, कपट, लोभ आदि कषाये भी की हैं। विषय की चाह आग की तरह जलाती है। इसलिए अब विषय-वासनाओ और कषाय भावो से मुख मोड कर आत्म-स्वरूप का ध्यान करना चाहिए, इसी मे सबका कल्याण है।

जिस पद मे तू राग कर रहा है, यह तेरा यथार्थ पद नही है, क्यो पराए पद मे रत होकर दुःख सह रहा है? मनुष्य भव पाया है तो आत्म-रुचि पैदा कर पूर्ण सुखी बन जाओ। इस अवसर को कभी न चूको, अन्यथा फिर अवसर न पाओगे।

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज शुकल वैसाख।
कर्यो तत्त्व उपदेश यह, लखि 'बुधजन' की भाख॥ १॥

लघु-धी तथा प्रमादतै, शव्द-अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढो सदा, जो पावौ भव-कूल॥ २॥

अर्थ—पं० दौलतरामजी ने पं० बुधजनजी कृत 'छहढाला' के आधार पर यह तत्वोपदेश संवत् १८६१ मिती वैशाख शुक्ल तृतीया को पूर्ण किया। पं० जी कहते हैं कि अपनी लघु बुद्धि तथा प्रमाद के द्वारा कहीं शब्द या अर्थ की भूल हुई हो तो उसे विद्वत्-जन सुधार कर के पढ़ ले, तभी इस संसार के पार जा सकते है।

भावार्थ—प० दौलतरामजी कहते हैं, यह तत्वोपदेश उन्होने प० बुधजनजी कृत छहढाला का आधार लेकर विक्रम् सम्वत् १८६१ मिती वैशाख शुक्ल तृतीया को पूर्ण किया है। अपनी अल्प-बुद्धि और प्रमाद के कारण जो शब्द या अर्थ की भूल हो गयी हो, उसके लिये वे विद्वानो से प्रार्थना करते हैं कि उसको सुधार कर पढ ले, तभी ससार-सागर से उद्धार हो सकता है।

* छठवीं ढाल से सम्बन्धित कुछ ध्यान देने योग्य बातें *

१. **छन्द**—छठवी ढाल का छन्द 'हरि-गीता' है। इसमे चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरण मे २८ मात्राये होती हैं। प्रति १६ और १२ मात्राओ पर विराम होता है। पाँचवी, बारहवी, उन्नीसवी और छब्बीसवी मात्राये लघु होती है। चरण के अन्त मे प्राय गुरु-लघु-गुरु का क्रम होता है।

२ **इस ढाल के भेद-संग्रह—**

अन्तरङ्ग तप	(६)	प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।
उपयोग	(३)	अशुभ-उपयोग, शुभ-उपयोग और शुद्ध-उपयोग।
दोष	(४६)	दाता के १६ उद्गम दोष, पात्र के १६ उत्पादन दोष, आहार सम्बन्धी १० दोष, भोजन क्रिया सम्बन्धी ४ दोष = ४६ दोष।
चारित्र (मुनि)	(१३)	महाव्रत ५, समिति ५ और गुप्ति ३।
धर्म	(१०)	उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।
मुनि के मूलगुण	(२८)	५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियजय, ६ आवश्यक, ७ शेषगुण = २८ मूलगुण।

शील के (१८०००) भेद—

चेतन-स्त्री—चेतन-स्त्री (देवी, नारी, तिर्यची) उनके साथ तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन करना) तीन योगो से (मन, वचन, काय), ५ इन्द्रियो द्वारा (स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण द्वारा), ४ सज्ञा सहित (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह), द्रव्य तथा भाव से, १६ प्रकार से सेवन (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और सज्वलन—इन चारो को ४ कषायो से गुणा करने पर=४×४=१६)। इस प्रकार ३×३×३×५×४× १७२८० भेद हुए।

अचेतन-स्त्री—३ प्रकार (कठोर स्पर्श, कोमल स्पर्श, चित्रपट) की, उसके साथ ३ करण (करना, कराना, अनुमोदन करना), २ योग (मन, वचन) द्वारा, ५ इन्द्रियो से, ४ संज्ञा सहित (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह), द्रव्य और भाव से सेवन। इस प्रकार ३×३×२×५×४×२ = ७२० भेद हुए। कुल चेतन और अचेतन के १७२८० + ७२० = १८००० दोष हुए। दोषो का अभाव शील है। (शील = निर्मल दोष-रहित स्वभाव)।

नय (२) निश्चय और व्यवहार ।
निक्षेप (४) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ।
प्रमाण (२) प्रत्यक्ष और परोक्ष ।

३. **इस ढाल के युग्मों का अन्तर—**

(i) **नय और निक्षेप**—नय जाननेवाला या ज्ञाता है और निक्षेप ज्ञान मे जानने योग्य या ज्ञेय है ।

(ii) **नय और प्रमाण**—नय एक अंश की मुख्यता लेकर उसी अंश को जानता है और प्रमाण समस्त अंशो को या वस्तु के सामान्य-विशेष समस्त अंशो को जानता है ।

(iii) **शुभ और शुद्ध उपयोग**—शुभ उपयोग बंध या ससार का कारण है, किन्तु शुद्ध उपयोग निर्जरा और मोक्ष का कारण है ।

४. **लाक्षणिक शब्द—**

इस ढाल मे आये हुए कुछ शब्दो का लक्षण समझिये । अन्तरङ्ग तप, अनुभव' आवश्यक, कायगुप्ति, तप, निक्षेप, प्रतिक्रमण, प्रमाण, बहिरङ्ग तप, मनोगुप्ति, महाव्रत, शुक्ल-ध्यान, समिति, स्वरूपाचरण ।

परिशिष्ट [क]

लक्षण-संग्रह

अकाम-निर्जरा —तीव्र कर्मोदय मे सहने की हार्दिक इच्छा न होने पर भी अपने पुरुषार्थ द्वारा मन्द-कषाय-रूप परिणति होना या रोग-क्षुधादि को यथासाध्य शान्ति से सहन कर, फल देकर कर्मों का झड जाना, पराधीनता से यदि कष्ट सहना पडे, नियम पालना पडे तो त्याग वृत्ति व सयम न होते हुए भी मन्द-कषाय से अर्थात् शान्तिपूर्वक उनको सह लेने पर भी कर्म-निर्जरा होती है, इसे अकाम-निर्जरा कहते हैं। (१)

अणुव्रत —पाँच पापो का स्थूल-रूप एकदेश-त्याग, यह व्रत श्रावक-दशा मे होता है। (४)

अतिचार —व्रत को पालन करते हुए भी उसमे एकदेश भङ्ग होना अतिचार है। (४)

अनर्थदण्ड —प्रयोजन-रहित (मन, वचन, काय से) अशुभ-प्रवृत्ति होना। अनर्थदण्ड-व्रत मे इस अशुभ-प्रवृत्ति का त्याग होता है। (४)

अनायतन —कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनो के सेवक इस प्रकार छ अनायतन या अधर्म-स्थानक है। (३)

अनुप्रेक्षा-भावना—संसार, शरीर और भोगादि के स्वरूप को अपने से भिन्न समझ कर वारम्वार विचार करना और उनके प्रति उदासीन-भाव उत्पन्न करना। (५)

अनुभव —आत्मा के ज्ञान और सुख का रसास्वादन। (२)

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम॥

निमित्त-कारण —जो स्वय कार्य-रूप न हो, किन्तु कार्य की उत्पत्ति के समय उसे अनुकूल पडे, वह निमित्त कारण कहलाता है। (३)

निर्वेद —ससार, शरीर और भोगो मे उदासीन या वैराग्य-भाव होना। (३)

निक्षेप —प्रमाणो और नयो से प्रचलित लोक-व्यवहार। (६)

नो-कर्म —औदारिक आदि पाँच शरीर और छ पर्याप्तियो के योग्य पुद्गल परमाणुओ का ग्रहण करना। (३)

परोक्ष —इन्द्रियादिक की सहायता से वस्तु को जाननेवाला ज्ञान। (४)

पर्याय —गुणो के विशेष परिणमन को पर्याय कहते है। (४)

पाप —मिथ्यादर्शन, आत्मा का विपरीत ज्ञान, हिसादि-भाव पाप है। (५)

पुण्य —दया, दान, व्रतादि के शुभ-भाव या मन्द-कषाय-भाव, जो शुभ-बन्ध के कारण है। (५)

पुद्गल —जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो या जो उत्पन्न हो और गले या बन्ध और पृथक्-स्वभावी हो, वह द्रव्य। (३)

प्रत्यक्ष —सीधा आत्मा मे होनेवाला ज्ञान। प्रति=सन्मुख, अक्ष=आत्मा, (प्रति+अक्ष) अर्थात् जो ज्ञान आत्मा के सन्मुख हो, किसी के सहारे न हो। विना किसी की सहायता के आत्मा से जो स्पष्ट ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। (५)

प्रतिक्रमण —मेरे अपराध मिथ्या हो, इस प्रकार गुरु के समीप निवेदन। (६)

प्रत्येक वनस्पति—ऐसे वनस्पति जिसमे एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है। (२)

प्रमाण —स्व-पर वस्तु का निश्चय करनेवाला सम्यग्ज्ञान। सच्चा ज्ञान। (६)

प्रमाद —अपने स्वरूप मे असावधानी की प्रवृत्ति या धार्मिक कार्यों मे उदासीनता। (३)

प्रशम —अनन्तानुवन्धी कषाय के अन्तपूर्वक शेष कषायो का अशत. मन्द होना, शान्त-परिणाम । (३)

बहिरङ्ग-तप —उपवास आदि तप जिन्हे दूसरे भी जान सके, वाह्य तप है । दूसरे देख सके, ऐसे पर-पदार्थों से संबंधित इच्छा-निरोध । (६)

बोधि —सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता या एक-रूपता । (५)

भव्य —रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता रखनेवाला जीव । (१)

भाव-कर्म —मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि जीव के मलिन-भाव । (३)

भाव-हिंसा —मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि विकारो की उत्पत्ति । (२)

मद —ज्ञानादिक का गर्व या अभिमान । (३)

मनःपर्यय —द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा सहित दूसरे के मन मे विचारे हुए सरल अथवा गूढ़-पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान । (४)

महाव्रत —हिंसादि पाँच पापो का सर्वथा त्याग । (६)

मिथ्यादर्शन —जीवादि तत्त्वो की विपरीत श्रद्धा । (२)

मिथ्यादृष्टि —तत्त्वो को विपरीत श्रद्धा करनेवाले । (३)

मूर्तिक —जिस वस्तु मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो । (२)

मेरु —जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र मे स्थित एक लाख योजन ऊँचा एक पर्वत । (१)

मनोगुप्ति —मन की ओर स उपयोग हटा कर आत्मा मे लगाना । (६)

विपर्यय —विपरीत ज्ञान । (४)

विमानवासी —स्वर्ग और ग्रैवेयक आदि के ऊर्ध्वलोकवासी देव जो विमानो मे रहते है । (१)

व्रत —अशुभ-कार्य को छोडना और शुभ-कार्य करना । (४)

लोक —जिसमे जीवादि छ द्रव्य स्थित है, इसे लोकाकाश भी कहते हैं । (१)

लोक-मूढ़ता —धर्म समझ कर जलाशयो मे स्नान करना, बालू या पत्थरो के ढेर लगाना, पञ्चाग्नि तपना आदि कार्य । (३)

शुक्लध्यान —अत्यन्त निर्मल और वीतरागतापूर्ण ध्यान । (६)

शुद्धोपयोग —शुभ या अशुभ राग-द्वेषादि से रहित आत्म-परिणति । (३)

समिति —प्रमाद-रहित यत्नाचार-सहित सम्यक् प्रवृत्ति । (६)

सागर —एक बहुत बडा समय-प्रमाण । व्यवहारपल्य से असंख्यातगुणा उद्धारपल्य और उद्धारपल्य से असंख्यातगुणा अद्धापल्य और ऐसे दश कोडाकोडी अद्धापल्यो का एक सागर होता है । (१)

संन्यास —आत्मा का धर्म समझ कर अपनी शुद्धता के लिये कषायो को और शरीर का कृश करना । इसे संल्लेखना अथवा समाधि भी कहते है । (४)

संवेग —साधर्मी और पञ्चपरमेष्ठी मे प्रीति अथवा संसार के दुःखो से भयभीत होना और धर्म मे उत्साहित होना । (२)

संशय —विरोध सहित अनिश्चित ज्ञान, जैसे यह सर्प है या रस्सी ? (२)

स्वरूपाचरण —आत्म-स्वरूप मे एकतापूर्वक रमणता या लीनता । (६)

(संकेत —कोष्टक के भीतर अङ्क, प्रकरण या ढाल की संख्या को बताता है)
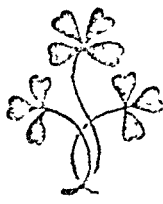
तारण तत्व प्रकाश

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपं रुचि कारक।
ततोपि दुर्लभंशास्त्रं चिद्रूपं प्रतिपादकं ॥
ततोपि दुर्लभं लोके गुरुस्तदुपदेशक ।
ततोपि दुर्लभं भेद ज्ञान चिन्ता मणि यथा ॥

पं० चम्पालाल जैन
सोहागपुर (होशगावाद) म०प्र०

मुद्रक.– विकास प्रेस छिन्दवाडा

प्रथमावृत्ति	तारण संवत्	मूल्य
१०००	५२५	५)